

है, किंतु विभावों का दर्शन और रस का आस्वादन दोनों साथ ही साथ होते हैं। कारण के पीछे कार्य चाहे कितनी ही जल्दी क्यों न आ उपस्थित हो, परंतु उसमें पूर्वापर संबंध रहता अवश्य है। चंदन-लेप का त्वचा पर स्पर्श होने और उसकी शीतलता का अनुभव होने में कुछ-न-कुछ समय लगता ही है चाहे वह कितना ही स्वल्प क्यों न हो।

उत्पत्तिवाद से असंतुष्ट होकर श्री शंकुक, न्याय के आधार पर, अपने अनुमितिवाद को लेकर आगे आए। उन्होंने भरत के 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति माना। उनके अनुसार विभाव श्री शंकुक का अनुमितिवाद अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। इन्हीं को गम्य और गमक भी कहते हैं। नायक में स्थायी भाव का अस्तित्व रहता ही है। विभाव अनुमाव आदि से, जिनको वह बड़ी कुशलता से अभिनय करके दिखाता है, नट में भी उसका अनुमान कर लिया जाता है, यद्यपि उसमें उसका (रस का) अस्तित्व नहीं रहता। बात यह है कि प्रेक्षक उस निपुण अभिनेता नट को ही नायक समझ लेता है। इस सुखद भ्रम में पड़कर उसे नायक के भावों का अनुमान हो जाता है। इस अनुमान के द्वारा प्रेक्षक जब इस भाव को समझने लगता है तब उसके (भाव के) सौंदर्य के कारण वह चमत्कृत हो जाता है और उसे एक प्रकार का अलौकिक आनंद मिलता है। यही आनंद स्वाद या रस है। चित्र-तुरंग-न्याय के अनुसार (जैसे चित्र के घोड़े को लोग घोड़ा ही कहते हैं उसी प्रकार) प्रेक्षक अभिनेता को नायक समझता है और नायक की मनोवृत्तियों का उसमें आरोप कर स्वयं रसास्वाद करता है।

इस अनुमिति के विरुद्ध भी कई आक्षेप किए गए हैं। सबसे पहले तो इसमें इस तथ्य की अवहेलना की गई है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण आनंद मिल सकता है वह अनुमान से नहीं।

फिर उत्पत्ति के विषय में जो कठिनाई उठी थी वह इससे दूर नहीं होती। अनुमितिवाद तथा उत्पत्तिवाद दोनों में ही रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी जाती। यदि मानी जाय तो प्रश्न यह उठेगा कि दूसरे व्यक्ति के भावों को उसने कैसे अपना लिया।

जैसे भट्ट नायक ने कहा है—यदि रस की अवस्थिति अन्य व्यक्ति में है और वह तटस्थ है तो प्रकृतक स्थयं उससे प्रभावित नहीं हो सकता। नायक के कृत्यों से भी प्रेक्षक में रस का उदय मानना नहीं बनता, क्योंकि वे विभाव और अनुभाव, जिनके द्वारा नायक प्रभावित होता है, नायक ही के संबंध में विभावानुभाव हैं, प्रेक्षक के प्रसंग में नहीं।

इस पर कुछ विद्वानों का मत है कि विभावानुभाव आदि के द्वारा नायक के स्थायी भाव की प्रतीति होती है, जिसके कारण सहृदय प्रेक्षकों के हृदय में यह भावना उत्पन्न होती है कि नायक मैं ही हूँ। इस प्रकार की भावना के दोष से जो फल होता है वही 'संयोग' है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प और शुक्ति मैं चांदी का भ्रम होता है उसी प्रकार प्रेक्षक का हृदय भी कल्पित नायकत्व से छा जाता है। शकुंतला नाटक देखते हुए प्रेक्षक को भ्रम होगा कि दुष्यंत मैं ही हूँ और शकुंतला के प्रति स्थायी भाव रति की, उसके हृदय में, एक विलक्षण रूप से अवस्थिति होगी, जिसके विषय में न यही कहा जा सकता है कि वह है (सत्) क्योंकि वस्तुतः तो वह दुष्यंत के हृदय में थी, प्रेक्षक के हृदय में नहीं; और न यही कहा जा सकता है कि नहीं है (असत्) क्योंकि भ्रम-रूप में उसके हृदय में उसकी स्थिति है। इस मत के अनुसार आलंबन के प्रति नायक का स्थायी भाव प्रेक्षक के हृदय में सर्वथा मिथ्या-रूप में उत्पन्न होता है और आत्मा का परावर्तित चैतन्य उसे प्रकाशित करता है, जिससे रस-रूप में उसका आनंद मिलता है।

परंतु आलंबन के प्रति नायक के जो रति आदि स्थायी भाव होते हैं उनका प्रेक्षक के हृदय में उदय होना माने तो यह देवता आदि पूज्य व्यक्तियों के विषय में कैसे निभेगा? जिन सोता देवी को प्रेक्षक परंपरा से जगन्माता मानते आए हों उनके विषय में राम को रति का उनके हृदय में उद्भव होना संभव नहीं। फिर नायक के वे पराक्रम-पूर्ण कार्य, जिनके करने में प्रेक्षक सर्वथा असमर्थ हैं, कैसे उसके हृदय में आ सकते हैं? जिन भावों का हमने स्वतः अनुभव नहीं किया है वे कैसे हमारे लिये विभावों का काम दे सकेंगे? राम के बाण-संधान-मात्र करने से

समुद्र में दाह उत्पन्न कर देना इत्यादि अलौकिक कृत्यों का हमें अनुभव हो ही नहीं सकता। फिर यदि प्रेक्षक नायक के ही भावों का अनुभव करता है तो रस सदैव आनंद-रूप नहीं माना जा सकता। रति के स्थान पर जब नायक को शोक हो रहा हो उस समय प्रेक्षक को भी इसके अनुसार शोक ही होना चाहिए, जो आनंददायक नहीं, वरन् दुःखदायक होता है। और यदि यह बात होती तो भवभूति के लिये नाटक इतने सर्वप्रिय न होते जितने कि वे वास्तव में हैं, क्योंकि कहणा रस के होने के कारण वे उस दशा में दुःखदायक सिद्ध होते। इसलिये यह भी विद्वानों को न रुचा।

भट्ट नायक ने प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है। उनके अनुसार स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियों का भट्ट नायक का भक्तिवाद हाथ रहता है। ये शक्तियाँ हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा के द्वारा काव्य के सामान्य और आलंकारिक अर्थों का ज्ञान होता है। भावकत्व के द्वारा विभाव-अनुभाव आदि व्यक्ति-संबंध से मुक्त होकर सधारण अर्थात् मनुष्य-मात्र के अनुभव के योग्य बन जाते हैं। उनमें कोई विशेषता नहीं रहने पाती। प्रेक्षक के हृदय में यह ज्ञान नहीं रहता कि यह दुष्यंत की स्त्री शकुनता है; वह उसको स्त्री-मात्र समझता है। इसी प्रकार दुष्यंत पुरुष-मात्र रह जाता है। व्यक्तित्व, देश-काल आदि विशेषताएँ दूर हो जाती हैं। इसका फल यह होता है कि स्थायी भाव मनुष्य-मात्र के द्वारा भोग किए जाने के योग्य हो जाता है, साधारण हो जाता है। यहाँ संयोग का अर्थ सम्यक् अर्थात् साधारण रूप से योग्य अर्थात् भावित होना है। जिस क्रिया के द्वारा इस प्रकार साधारणीकृत स्थायी भाव का रस-रूप में भोग होता है उसे भोजकत्व कहते हैं। वह भोग ही निष्पत्ति है। रस के संबंध में जब ‘भोग’ का प्रयोग किया, जाता है तब उसे सांसारिक अर्थ में नहीं समझना चाहिए। भोग के द्वारा रजस् और तमस् गुण निवृत्त होकर सत्त्व गुण की वृद्धि होती है जिससे आनंद का प्रकाश होता है। यही आनंद रस है, जिसका भोग

करते हुए मनुष्य थोड़ी देर के लिये सांसारिक बंधनों से निर्मुक्त होकर सार्वभौम चैतन्य जगत् में प्रवेश पा जाता है। इसी से वह आनंद ब्रजानंद सहोदर कहलाता है। ब्रजानंद और काव्यानंद (रस) में इतना ही भेद है कि ब्रजानंद तो सांसारिक विषयों से विरत होने पर होता है और नित्य है, परंतु काव्यानंद विषयों से उद्भूत होता है और थोड़े ही समय तक रहता है।

इस सिद्धांत पर यह आपत्ति हुई कि काव्य की तीन शक्तियों को मानने के लिये कोई आधार-रूप प्रमाण नहीं है। जिन बातों के लिये

अभिनवगुप्त का युक्तियुक्त नियम प्राप्त हो सकते हैं उनके लिये अभिव्यक्तिवाद अप्रमाणित सिद्धांत का प्रचलन उचित नहीं।

भट्ट नायक के सिद्धांत की विशेषता इसी में है कि उन्होंने भावकत्व और भोजकत्व ये दो नई क्रियाएँ मानी हैं। अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार इन दोनों क्रियाओं का काम व्यंजना और ध्वनि से चल जाता है। भावकत्व तो भावों का अपना गुण है ही। भरत मुनि ने इसी लिये कहा है कि 'काव्यार्थन् भावयतीति भावाः— जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावें वे भाव होते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्यार्थ का यहाँ यह मुख्य अर्थ है जिसमें काव्य का आनंद निहित रहता है। संचारियों से पुष्ट होकर स्थायी भाव ही आस्वादयुक्त काव्यार्थ के अस्तित्व के कारण होता है। अतएव वही (काव्यार्थ) रस का भावक है, क्योंकि उसी से रस व्यंजित होता है। रस का भोग भी आस्वाद के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं। रस में भोग का भाव पहले ही से विद्यमान है। 'आस्वादत्वाद्रसः'—रस वही है जिसका आस्वाद हो सके, भोग हो सके। अतएव भोजकत्व को भी अलग शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह ध्वनि के द्वारा संपन्न हा जाता है। इसी लिये संयोग का अर्थ है ध्वनित या व्यंजित होना और निष्पत्ति का अर्थ हुआ आनंद-रूप में प्रकाशित होना।

परंतु रस की अभिव्यक्ति होती कैसे है? बात यह है कि मनुष्य भिन्न भिन्न परिस्थितियों में पड़कर जिन भावों का अनुभव करता है वे,

वासना-रूप में, उसके हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव वासना-रूप में पहले ही से उसके हृदय में विद्यमान रहते हैं। केवल बात इतनी है कि इस रूप में उनका अनुभव मनुष्य को नहीं होता, क्योंकि उनके विषय में आत्मा पर अज्ञान का आवरण छाया रहता है। निपुण अभिनय के द्वारा विभावानुभाव के प्रदर्शन से अज्ञान का आवरण हट जाने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मानन्द के प्रकाश में जब उनका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं। या यह भी कह सकते हैं कि विभावानुभाव के प्रदर्शन पूर्व-संस्कार को उत्तेजित कर प्रे क्षक को इतना तन्मय बना देते हैं कि उसकी चित्त श्रुति आनंदमय हो जाती है। यही रसस्वादन है। चाहे जिस तरह लीजिए, स्थायी भाव और चैतन्य के योग से ही रस की प्रतीति होती है। किंतु रस की अनुभूति तब तक संभव नहीं जब तक कि वासना-रूप संस्कार हृदय में पहले ही से विद्यमान न हों। जिस मनुष्य के हृदय में ये वासना-रूप संस्कार होते हैं वह सहृदय कहलाता है। मनुष्य सहृदय तीन प्रकार से हो सकता है। सांसारिक अनुभव से, पूर्व जन्म के संस्कारों से, और अभ्यास से। जिनको न सांसारिक अनुभव है, न जिनके पूर्व जन्म के संस्कार हैं और जो इस जन्म में भी साहित्य-शास्त्र इत्यादि के अनुशीलन के द्वारा अभ्यास नहीं करते वे सहृदयों की श्रीणी में नहीं आते और रसास्वादन से वंचित रहते हैं। भीमांसकों, वैयाकरणों आदि को साहित्यिकों ने इसी कोटि में रखा है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मानन्द के प्रकाश में स्थायी भाव की जो रस-रूप आनंदानुभूति होती है उसमें भी लौकिकता नहीं रह जाती। सब वैयक्तिक संबंधों से मुक्त होकर निर्विशेष रूप से प्रे क्षक को उसकी अनुभूति मिलती है। इसी लिये उसे ब्रह्मानंद-सहोदर कहा जाता है।

यद्यपि रस का आनंद विषय-जन्य है तथापि विषयानंद से उसका कोई संबंध नहीं, इसी लिये उसे ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है। रस का आस्वादन करते हुए मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। वह अपने

आप के मनुष्य-जाति से अलग व्यक्ति-विशेष नहीं समझता वरन् मनुष्य-मात्र होकर उसका अनुभव करता है।

प्रश्न उठ सकता है कि स्थायी भाव विभावानुभाव आदि लौकिक वस्तुओं से अलौकिक रस का उदय किस प्रकार संभव है। इसके उत्तर में शास्त्राकार यही कहा करते हैं कि जिस प्रकार मिश्री, मिरिच, करूरादि के संयोग से तैयार होनेवाले पान (शर्वत) के रस का स्वाद इन सब वस्तुओं से विलक्षण होता है उसी प्रकार इन लौकिक पदार्थों से भी अलौकिक रस का आविभाव होता है।

ऊपर अभिनवगुप्ताचार्य का जो मत दिया गया है, पीछे के नाट्य-शास्त्राकारों ने उसे ही स्वीकार किया है। धनंजय ने भी इसी को माना है। धनंजय का उनसे इतना ही भेद ज्ञात होता है कि धनंजय नट में भी आनंद मान बैठे हैं, जिसे अभिनवगुप्त नहीं मानते। इन शास्त्राकारों ने संक्षेप में रस की व्याख्या इस प्रकार की है। स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब सहृदय प्रेक्षक के हृदय में रस-रूप से उसका आस्वादन होता है। भाव के अनुभव और उसके रसास्वादन में भेद है। अनुभव में भाव की सुख-दुःख-पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्ता को भी सुख-दुःख होता है, परंतु उसका आस्वादन इनसे रहित है। इसकी अवस्थिति इस मत के अनुसार न नायक में मानी जा सकती है और न नट में (क्योंकि रस तो वर्तमान वस्तु है और नायक भूतकाल में था, वर्तमान में नहीं है और नट का कार्य तो नायक आदि के अभिनय से अनुकरण मात्र करना है) वह तो केवल विभाव आदि को प्रेक्षक के सामने प्रदर्शित भर कर देता है। रस की अवस्थिति सहृदय प्रेक्षक में है। प्रेक्षक में भी स्थायी भाव आदि के ज्ञान-मात्र ही से रस उत्पन्न नहीं होता।

यह ज्ञान सामान्य ज्ञान से भिन्न होता है अतः प्रेक्षक, श्रोता अथवा पाठक के हृदय में जो रसानुभूति होती है उसकी प्रक्रिया समझने के लिये मधुमतो-भूमिका और परप्रत्यक्ष का पहले समझ लेना चाहिए।

अपने मेघदूत (अनुवाद, संशोधित संस्करण) की भूमिका में पंडित केशवप्रसाद मिश्र ने लिखा है—

“मधुमती-भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् मधुमती-भूमिका और प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी इन तीनों के परप्रत्यक्ष भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे,

‘यह मेरा पुत्र है’ इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता इन तीनों की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं; केवल वस्तु-मात्र का आभासमिलता रहता है उसे पर प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समाप्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ, पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह समाप्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद-बुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों द्वे रहते हैं, सहायकों से शह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्त्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा के अपना कुटुंब समझते हैं और इसके अभाव से छुट-चित्त व्यक्ति अपने-पराये का बहुत भेद किया करते हैं और इसी लिये दुःख पाते हैं, क्योंकि “भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्ति ।”

जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परंतु जिस

समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस

साधारणीकरण

समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मता छोड़कर अलौकिक सुखात्मता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नहीं।

योगी अपनी साधना से इस अवस्था के प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती-भूमिका का स्पर्श करता है तब समस्त वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार से उसके लिये स्वगं का द्वार खुल जाता है। पातंजल सूत्रों के भाष्यकर्ता भगवान् व्यास कैसे सुंदर शब्दों में इसका वर्णन करते हैं—

मधुमतीं भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरूपनिमन्त्रयन्ते—भोऽह्नायताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते; वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महषायः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वत्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जित-मायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरमरस्थानं देवानां प्रियमिति ।

अथोत् मधुमती-भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्ध सात्त्विकता देखकर देवता अपने अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं— इधर आइए, यहाँ रमिए, इस भोग के लिये लोग तरसा करते हैं, देखिए कैसी सुंदरी कन्या है। यह रसायन बुढ़ापा और मौत दोनों को दबाता है। यह आकाश-यान, ये कल्पवृक्ष, यह पावन मंदाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सराएँ, ये दिव्य श्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह वज्र-सा शरीर सब आप ही ने तो अपने गुणों से उपार्जित किया है। फिर पधारिए न इस देवप्रिय अक्षय, अजर-अमर स्थान में।

इसी दिव्य भूमिका में पहुँचकर क्रांतदर्शी वंदिक कवि ने कहा था—

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव; माध्वीर्नः सन्त्वोपधीः ।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । मधुमात्रो
वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । ऋ० १६०।६

योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती-भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रातिभज्ञान-संपन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है। साधक और कवि मैं अंतर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती-भूमिका मैं ठहर सकता है; पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका मैं रहता है उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है जो अपनी शब्दशक्ति से उसी निर्वितर्क समापनि का रूप खड़ा कर देती है जिसकी चर्चां पहले हो चुकी है। यही रसास्वाद की अवस्था है, यही रस की 'ब्रह्मास्वादसहोदरता' है।

बड़े ही गूढ़ अभिश्राय से प्रकाशकार ने 'माधुर्य.....द्रुतिकारणं' कहकर मधुमती के पुत्र माधुर्य के चित्त-द्रुति का कारण बतलाया है। चित्त की द्रुति अथवा द्रवीभाव है क्या? चित्त स्वभावतः कटिन होता है। उसकी कटिनता इसी मैं है कि वह अपने को किसी भाव से आविष्ट नहीं होने देता, किसी भाव को संचार के लिए उसमें अवकाश नहीं मिलता। जब इस प्रकार की कटिनता चली जाय, जब शोक, क्रोध, जुगुप्सा आदि से उत्पन्न दीप्ति (तमतमाहट) मिट जाय, जब विस्मय, हास, भय आदि से उत्पन्न विक्षेप भी न रहे, उस समय आवरण हटाकर रति आदि भावों के आकार मैं भासमान आंतरिक आनन्द-ज्योति के जग उठने पर जो सहृदय पुरुष के हृदय की आर्द्रता होती है, जो अशु-प्रवाह या पुलकावलि का संचार हो उठता है वही तो चित्त की द्रुति है। यह भी रसानुभूति की ही अवस्था है। माधुर्य से इसका संबंध बतलाकर मम्मट ने मधुमती की ओर ही संकेत किया है, पर खुले शब्दों मैं नहीं।

संस्कृत-साहित्य में ऐसे दो उदाहरण मिलते हैं जहाँ अपर प्रत्यक्ष की अवस्था मैं भी रस-संचार का वर्णन है। एक तो साज्जात् क्रौच-वध

देखने से महर्षि वाल्मीकि के चित्त में लौकिक संकोचक शोक न उत्पन्न होकर उस अलौकिक विकासक शोक का उत्पन्न होना जिसके आवेश में उनका प्रातिभ-ज्ञान जाग उठा और उन्होंने

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्कौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इस छोड़ामयी दैवी वाणी का आकस्मिक उच्चारण कर डाला । इस वाग्ब्रह्म के प्रबोध का वर्णन कालिदास, भवभूति तथा आनन्द-वर्धन ने 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः' आदि कहकर ऐसे ढंग से किया है कि वह शोक महर्षि के पर-प्रत्यक्ष का विषय ही जान पड़ता है । दूसरा सीता-परित्याग के पश्चात पुनः पंचवटी में स्वयं गए हुए रामचंद्र में, संगमकालीन दृश्यों का अपर-प्रत्यक्ष होने पर भी, लौकिक शोक न होकर उस करुणरस का संचार होना जिसका निर्देश भवभूति ने

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गृहः घनव्यथः ।

पुष्टपाकप्रतीकाशो रामस्य कदणो रसः ॥

कहकर स्पष्ट ही कर दिया है । इन उदाहरणों में भी पर-प्रत्यक्ष की अवस्था ही माननी चाहिए । महर्षि वाल्मीकि और भगवान् रामचंद्र शंका-समाधान दोनों ही ऐसे व्यक्ति थे जो परम सान्त्विक कहे जा सकते हैं । उनकी चित्त-वृत्ति एक प्रकार से सदा ही मधुमती-भूमिका में रही रहती होगी । अतः उनका शोक आत्म-संबंधी या पर-संबंधी परिच्छिन्न शोक नहीं है जिससे कि वह दुःखात्मक हो, अपितु वह व्यक्ति-संबंध-शून्य अपरिच्छिन्न शोक था जो स्थायी भाव होकर रस के रूप में परिणत हो सका ।

"कवि के समान हृदयालु वही सहृदय इसका स्वाद भी पा सकता है जिसका हृदय एक एक कण के साथ बंधुत्व के बंधन से बँधा है ।"

इस विवेचन में ये बातें ध्यान देने की हैं ।

१—रसानुभूति मधुमती-भूमिका में होती है ।

२—मधुमती-भूमिका में पर-प्रत्यक्ष होता है । अनुभूति अखंड और एकतान होती है ।

३—चित्तवृत्ति की इसी एकतानता का नाम है साधारणीकरण ।

४—इस अवस्था (अथवा भूमिका) में केवल आनंदानुभूति होती है, सुख-दुःख का लौकिक अनुभव नहीं होता । इसी से उस अनुभव का नाम है आस्वाद, रसना अथवा चर्वणा ।

५—वह आनंद इंद्रिय-जन्य नहीं प्रत्युत अलौकिक और अखंड होता है ।

६—इस भूमिका में पहुँचने पर साधक के ही समान कवि और भावक (पाठक, प्रेक्षक अथवा श्रोता) दोनों का ही अनुभव तथा ज्ञान सामान्य और साधारण होता है । यही साधारण-अलौकिकता लादेता है । जब वृत्तियों का साधारणीकरण हो जाता है तब इंद्रियों के व्यापार तथा मन के भाव सभी स्थिर हो जाते हैं, तर्क-वितर्क विलीन हो जाते हैं, अपने और पराए की भावना लोक-भावना में लीन हो जाती है और आत्मा में आनंद की अनुभूति (अथवा अभिव्यक्ति) होने लगती है । इसी विचित्र और अलौकिक अनुभूति को रसास्वाद कहते हैं ।

७—यह अनुभूति साधारण लोक की अनुभूति नहीं है । यह स्मरण रखना चाहिए ।

८—इस रस दशा में “सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे सुखात्मक भावों का आलंबन” बन जाती हैं । अर्थात् उस समय हम तर्क के लोक में नहीं, भाव के लोक में रहते हैं । वह हमारा साधारण लोक नहीं है । वह असाधारण मधुमान् लोक है । जिसे काव्यरसिक रसभूमिका कहते हैं उसे ही योगवाले मधुमती-भूमिका और ज्ञानी पर-प्रत्यक्ष की दशा कहते हैं । इसी बात को ध्यान में रखेकर ‘अलौकिक’ विशेषण का व्यवहार किया गया है क्योंकि यहाँ लोक के साधारण कार्य-कारण नहीं काम करते । यहाँ तो दुःखकथा से भी एक प्रकार का सुखात्मक अनुभव होता है, रसानुभूति होती है । सामान्य लोक में कारण के अनुरूप ही कार्य होता है पर इस रसलोक में सदा आनंद मिलता है ।

९—इस प्रसंग में यह भ्रम न होना चाहिए कि जिन भावों के सहारे रस का स्वाद मिलता है वे हमारे लोक के नहीं हैं । वे

भाव सर्वथा हमारे तथा हमारे लोक के हैं, वे अतीद्रिय, पार-लौकिक अथवा लोकबाह्य नहीं होते। वे अलौकिक केवल इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि उनका अनुभव पर-प्रत्यक्ष के लोक में—चित्त की मधुमती भूमिका में—होता है और उस अनुभव के कार्य-कारण साधारण और लौकिक नहीं होते। इसी से जाँ अँगरेजी-वाले अनुवाद अलौकिक का supernatural अथवा extra-ordinary शब्दों से अनुवाद करते हैं वे सत्य तक नहीं पहुँच पाते। अलौकिक का इस प्रसंग में अर्थ होता है supersensuous (पर-प्रत्यक्ष-गम्य)। लौकिक-अलौकिक पर हम पहले दूसरे अध्यार्थों में भी लिख चुके हैं क्योंकि कई विद्यार्थी तथा पाठक इसी भ्रम के कारण रस-परंपरा पर भी छोटे उद्घालने लगते हैं। आजकल के कुछ आलोचक जब पत्र-पत्रिकाओं में रस अलंकार आदि की छीछालंदर करने बैठते हैं तब हम उनसे यही प्रार्थना करते हैं कि पहले हजारों वर्षों की अर्जित, परिमार्जित तथा सांस्कृतिक निधि को परखने का यत्न करो, परखकर उसका उपयोग करो, तब आगे बढ़ो। इससे व्यर्थ भ्रम और लज्जा के फेर में न पड़ोगे।

१०—रसानुभूति कवि तथा सहृदय (भावुक) दोनों को होती है।

११—भाव में रज अथवा तम की प्रधानता रहती है और रस में केवल सत्त्व की। एक बात और बड़े पते की है कि 'भाव' का धात्वर्थ होता है किया या व्यापार।

ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि रस तो सभी भावुकों के अनुभव की चीज़ है पर रस-मीमांसा का विषय साधारण बात नहीं है। वह एक गहन और गंभीर शास्त्रीय विषय है। इसी से लोगों को प्रायः भ्रम हो जाया करता है। लोग पश्चिम के मनोविज्ञान को आधार बनाकर रस का सिद्धांत समझने चलते हैं और बीच में ही उत्तम जाते हैं और कभी कभी तो साधारणीकरण, अलौकिक और अभिव्यक्ति आदि शब्दों के भ्रम में पड़ जाते हैं। हम उन्हों (पंडित केशवप्रसाद मिश्र) की लिखी दूसरी भूमिका से ऐसा उद्धरण देते हैं

जिससे इन बातों पर थोड़ा अधिक प्रकाश पड़े और इंद्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा का भी संबंध मालूम हो जाय।

“इस जगत् में इंद्रियगम्य स्थूल विषय तो हैं ही; ऐसे सूक्ष्म विषय भी हैं जहाँ इंद्रियों की गति नहीं होती। या तो आधुनिक मन, बुद्धि और आत्मा वैज्ञानिक साधनों के द्वारा उनमें से कुछ की सत्ता प्रतीत होती है या मानसिक क्रिया द्वारा सब की। मन केवल सत्‌या प्रतीतियोग्य विषयों का ही साक्षात्कार नहीं करता, वह असत्‌या अप्रतीतियोग्य, लोकबाह्य, असंभाव्य, अर्चित्य अतएव असंगत तथा विलक्षण विषयों का भी साक्षात्कार कर सकता है, साक्षात्कार क्या, उनकी सृष्टि कर सकता है। जैसे पहले पहल समस्त सत्‌ पदार्थों की सृष्टि मन ने ही की है उसी प्रकार आगे आगे नई से नई सृष्टि करने की क्षमता भी उसी मन में है। पर मानव का छोटा सा मन जो कुछ नई सृष्टि करता है उसके उपादान, उसके आरंभक अणु, उसी महान्‌ मन की महारूचि से उत्पादित सृष्टि से ही लिए हुए होते हैं। मानव-मन उपादानों की नई से नई योजना करके नवीन मूर्तियाँ खड़ी कर सकता है, पर उपादान परिचित ही होते हैं, उनमें मौलिक नवीनता लाना मन के मान का नहीं। मन अपनी योजना-शक्ति की सहायता से जो नई सृष्टि करता है उसे विलक्षण होने पर भी सलक्षण और असंगत होने पर भी सुसंगत होना चाहिए। अन्यथा बुद्धि, जिसका पद मन से ऊँचा है, उसको हेय समझती है, बावले का हवाई किला मानती है। मनःकल्पित प्रत्येक वस्तु बुद्धि-ब्राह्म होनी चाहिए। इसी तिनके की ओट में ही तो पागल और सरेख के भेद का पहाड़ है। मनसाराम केवल उत्पादक ही नहीं बड़े भावुक भी हैं। अपनी ही रचना पर समय से रीझ या खीझ जाया करते हैं। अस्तु, इतने पर भी मन और बुद्धि करण या साधन ही हैं। अतः उनमें स्वतः चेतनता या प्रकाश नहीं होता। वे जिसके प्रकाश में अपना अपना कार्य करते हैं वह स्वतःप्रकाश सच्चिदानन्द आत्मा सबका तटस्थ साक्षी है।

मधुमती भूमिका में पहुँचा कवि का मान जब उल्लिखित होकर नवीन सृष्टि का आरंभ करता है और अपनी ही सृष्टि की सुंदरता पर रस और साधारणीकरण मुग्ध होकर रीफता है उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ एकतान एकलय हो जाती हैं। इसी लिये उसकी रचना भावों का संगीत है। मन की इस एकविषयावगाहिनी निरोधावस्था से चित् (= ज्ञान) का आवरण-भंग होता है; अर्थात् मन जब विज्ञिप्त होकर इधर उधर अनेक विषयों पर दौड़ता है उस समय अपनी इस विज्ञेप-क्रिया से वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव चित् पर एक प्रकार का पर्दा-सा डालता रहता है, पर जहाँ उसकी यह विज्ञेपावस्था निरोधावस्था में बदली कि उसका आवरण डालना बंद हो जाता है और चित् निरावण होकर चमकने लगता है। इस अवस्था में वह अनुभविता और अनुभाव्य अथवा द्रष्टा और दृश्य दोनों है। इसी लिये निरावण चित् को आनंद स्वरूप का अनुभव करने के लिये किसी दूसरे अनुभविता की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा के इसी आनंद स्वरूप का रस कहते हैं। कवि के समाज हृदयालु सहृदय (आजकल का समीक्षक, समालोचक या Critic) भी जब उसी भूमिका का स्पर्श करता है, तब उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एकतान, एकलय हो जाती हैं, (जिसके लिये पारिभाषिक शब्द साधारणीकरण है) और उसे भी वही सगीत सुनाई पड़ने लगता है—उसी आनंद की झलक मिलती है। इस साधारण अवस्था में पहुँचने की शक्ति उसे कुछ तो कवि की दृष्टि की विशेषता और कुछ अपने संस्कार दोनों ही यथातश्य प्रदान करते हैं। कवि और सहृदय दोनों साधारण होते हुए भी भिन्न हैं। एक की प्रतिभा उत्पादक और दूसरे की प्राहक होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने पहली के प्रख्या और दूसरी के उपाख्या कहा है। राजशेखर ने एक को कार्यित्री प्रतिभा और दूसरी को भावयित्री प्रतिभा नाम दिया है।

भिन्न भिन्न कवि-सहृदय अपनी शक्ति के अनुसार कभी प्रतिपाद्य विषयों की, कभी प्रतिपादक शब्दों की अथवा कभी दोनों की नई से नई उद्भावना या भावना करके उसी आनंद की उपलब्धि किया या कराया करते हैं, पर

सबके प्रयास का फल एक समान नहीं होता। मात्राभेद से किसी को आनंद, किसी को आनंदभास और किसी को चमत्कार-मात्र नसीब होता है।”

इस प्रकार रस की मीमांसा हो जाने पर भी दो-एक भ्रमों का निराकरण करना आवश्यक हो गया है; क्योंकि प्रारंभिक ग्रंथ में प्रतिपादन का

बड़े महत्व के भ्रम प्रधान माग भ्रम-निवारण में ही जाना चाहिए।

भ्रमवश हिंदी के आलंचकों ने रस को न जाने क्या समझ रखा है। एक विद्वान् अँगरेजी मनोविज्ञान के फेर में पड़कर रस की मीमांसा करते हुए लिखते हैं—

“दो मनुष्य क्रोध में भरे एक दूसरे पर खड़ों से प्रहार कर रहे हों तो दोनों का भाव ‘रौद्र’ अवश्य है पर उनको रौद्र का रस नहीं आ रहा है। किंतु, यदि एक मनुष्य दूसरे को गहरा भाव पहुँचाकर और बेकाम करके ठहर जाय और कह—‘क्यों’ और लड़ोगे, फिर ऐसा करोगे, अब तो समझ गए न ?’ तो उसको रौद्र रस आया ऐसा जानना चाहिए।”

ऐसे विचार पश्चिमी मनोविज्ञान के औरस पुत्र हैं। भारतीय शास्त्रों में भाव और रस का ऐसा भेद नहीं किया गया है। यह तो feeling emotion तथा sentiment की चर्चा-सी जान पड़ती है। इस प्रकार के भ्रमपूर्ण विचार केवल हिंदी में नहीं अँगरेजी तक की प्रसिद्ध पुस्तकों में पाए जाते हैं। इसी से इस भ्रम से सावधान रहना चाहिए।

एक दूसरे विद्वान् लिखते हैं—“जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्वेधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ ‘साधारणीकरण’ कहलाता है।”

साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाय। विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोकसामान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा।

क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृंखला-बद्ध हो जायेंगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी। परिणामतः या अंतिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी जिसमें काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वंद्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसस्वाद किया जाता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक् नहीं रहता, 'ध्वनि' में अवसित हो जाता है। इनमें पहला प्रकार भट्ट नायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से संबंधित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त विद्वान् पहले प्रकार के समर्थक हैं किंतु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।

एक भ्रम लोगों में यह फैल गया है कि रस और कला का संबंध योग से है। यह बात तो सोलहों आने ठीक है, परं इसका यह अर्थ नहीं है कि रस का संबंध देवता और परलोक से है। योग का अर्थ है केवल वह चित्तवृत्ति का निरोध जिसके परप्रत्यक्ष और साधारणीकरण का संबंध है। यही कारण है कि कला की चर्चा आते ही भारतीय कलाविद् 'योग' की चर्चा करते हैं। भारत में भाव और भावना, काव्य और कला सब आत्मपक्ष की चीज़ें हैं इसी से योग और चित्तवृत्तिनिरोध का प्रश्न पहले उठता है और पश्चिम में पहले वस्तु पक्ष सामने आता है, तब कहीं मन आता है। पश्चिम को इसी बुद्धि ने यह भ्रम फैला दिया है कि भारतीय तो सभी जगह धर्म और दर्शन को ठूँसकर कला तथा शिल्प आदि का स्वरूप बिगाड़ देते हैं। बात ऐसी कभी नहीं है। उदाहरण के लिये केवल एक बात देखिए। यदि काव्य में देवादिविषया रति पाई जाती है तो उसे 'रस' का पद भी नहीं मिलता, वह केवल भाव मानी जाती है। यहाँ के

आचार्यों ने सबकी सीमा रखी है। इस कला और रस के लेत्र में उन्होंने कभी लोक के नहीं भुलाया है।

ऊपर तो रस के परिपाक की बात कही गई है परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रस परिपक्व अवस्था तक नहीं पहुँचता, जिसमें उसका आस्वादन होता है। चार अपूर्ण रस अवस्थाओं में यह बात होती है। एक तो जब

विभाव, अनुभाव आदि अन्य सामग्री के प्रबल होने के कारण भाव अंकुरित होकर ही रह जाता है, आगे बढ़कर तीव्र नहीं होने पाता; दूसरे, जब एक भाव के उदय होते ही दूसरा भाव उदय होकर उससे प्रबल हो जाता है और उसे दबा लेता है; तीसरे, जब एक भाव मन को एक और खींचता है और दूसरा दूसरी और तथा दोनों में से कोई इतना प्रबल नहीं होता कि दूसरे को दबा सके; और चौथे, जब कई भाव एक ही साथ उदय होते हैं अथवा एक के अनन्तर एक कई भाव उदय होते हैं और अपने से पूर्व के भाव को दबाते चलते हैं। पहली अवस्था को भावोदय, दूसरी को भाव-शांति, तीसरी को भाव-धि और चौथी को भाव-सबलता कहते हैं। यद्यपि जहाँ रस पूर्णता को नहीं पहुँच पाता वहाँ रस मानना युक्ति-युक्त नहीं है, तथापि रूढ़ि के अनुसार ऐसे स्थल भी सरस ही माने जाते हैं।

भरत मुनि ने प्रथान रस चार माने हैं—शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र। इनसे चार और रसों का उदय होता है। शृंगार

रस-मेद से हास्य का, वीर से अद्भुत का, बीभत्स से भयंकर का और रौद्र से करुण का। इस प्रकार आठ रस हुए। शृंगार रति स्थायी से, वीर उत्साह से, बीभत्स जुगुप्सा से, रौद्र क्रोध से, हास्य हास से, अद्भुत आश्र्य से, भयंकर भय से और करुण शोक से उदित होते हैं।

काव्य-शास्त्रों में शांत भी एक रस माना जाता है, परंतु नाट्य-शास्त्रकारों ने इसे नाट्य-रसों में इसलिए नहीं गिना है कि उनके अनुसार इसके स्थायी भाव शम का अभिनय नहीं किया जा सकता।

शम के लिये पूर्ण संयम, इंद्रिय-निग्रह और निश्चेष्टता की आवश्यकता है। मन को बाह्य विषयों से हटाकर अंतर्मुख कर लेना पड़ता है।

निर्वेद वे बातें नट में नहीं हो सकतीं। उसे तो शांत होने के लिये भी सचेष्ट होना पड़ेगा।

परंतु यह युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ती। नट के लिये तो यह आवश्यक नहीं कि जिस भाव का वह अभिनय करे उसका अनुभव भी करे। वह तो अपनी अनुकरण-निपुणता के कारण उसे दिखला भर देता है। जैसे वह और भावों का अभिनय करता है वैसे ही इसका भी कर सकता है। और जब निर्वेद संचारी का अभिनय हो सकता है तब कोई कारण नहीं कि निर्वेद स्थायी का भी अभिनय न किया जा सके। इसलिये महापात्र विश्वनाथ और पंडितराय जगन्नाथ आदि आचार्योंने शांत रस की नाट्य-रसों में भी गणना की है।

इस प्रकार रसों की संख्या नौ मानी गई है। इससे यह न समझना चाहिए कि रस के वस्तुतः भेद होते हैं। रस तो सदा भेद-रहित और एक-रस है। यह जो भेद माने गए हैं वह केवल स्थायी भावों के भेदों के आधार पर किए गए हैं जिससे रस-प्रक्रिया के ज्ञान में सुगमता हो।

कुछ शास्त्रकारों ने शृंगार-रस के तीन प्रकार माने हैं—अयोग, विप्रयोग और सयोग। पीछे के काव्य-शास्त्रों में अयोग और विप्रयोग

शृंगार-रस दोनों को विप्रलंभ के अंतर्गत माना है, जिससे

शृंगार के दो ही भेद ठहरते हैं। धनंजय के अनुसार जहाँ एक-चित्त दो नववयस्क व्यक्तियों (नायक-नायिका) में प्रेम होने पर भी परतंत्रता के कारण संगम न हो सके वहाँ अयोग शृंगार होता है। किन्हीं दो युवा-युवती में यदि अत्यंत प्रेम-भाव है कितु उनके माता-पिता उनके आपस में विवाहित होने में बाधा-स्वरूप हों तो यह अयोग शृंगार का उदाहरण होगा।

धनंजय के अनुसार अयोग की दस अवस्थाएँ होती हैं। पहले दोनों के हृदय में अभिलाषा उत्पन्न होती है, फिर चिंतन, उसके अनन्तर

सूति, किर गुण-कथन और दृष्टपरांत क्रमशः उद्धेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता और मरण।

अयोग में तो अभी एक दूसरे का संयोग हुआ ही नहीं रहता है, किन्तु विप्रयोग शृंगार वहाँ होता है जहाँ संयुक्त व्यक्ति वियुक्त हो जायँ। विप्रयोग दो प्रकार का होता है, मान-जनित और प्रवास-जनित। मान भी दो प्रकार का होता है, एक प्रणय-मान और दूसरा ईर्ष्या-मान। प्रेम से वशीभूत होने का प्रणय कहते हैं। इसके भंग होने से जो कलह होता है उसे प्रणय-मान कहते हैं। और जब यह सुनने, देखने अथवा अनुमान करने से कि नायिक किसी दूसरी खी से अनुरक्त है, ईर्ष्या उत्पन्न होती है तब उसे ईर्ष्या-मान कहते हैं। अनुमान से ईर्ष्या-मान भी तीन प्रकार का होता है। एक में स्वप्न में कहे गए वचनों के अनुमान से होता है, दूसरे में भेग के चिह्नों से और तीसरे में अनजाने अन्य किसी खी का नाम मुख से निकल जाने से। मान के उपचार के उपाय बतलाए गए हैं—साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसांतर। प्रिय वचन कहना साम कहलाता है। नायिका की सखियों को अपने साथ मिला लेने को भेद कहते हैं। गहने इत्यादि देकर प्रसन्न करना दान और पाँवों में पड़ना नति कहता है। यदि ये उपाय असफल हो जायें तो नायिका की उपेक्षा करनी चाहिए। धृष्टता, भय, हर्ष आदि भावों के प्रदर्शन से भी कोप भंग किया जा सकता है। ऐसा करने से नायिका का मन दूसरे भावों की ओर खिच जाता है। और वह अपने मान का भूल जाती है। यह रसांतर कहलाता है। इन उपायों का क्रमशः उपयोग विधेय कहा गया है।

प्रवास से, विप्रयोग दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिसमें प्रवास कार्यवश हा, दूसरा वह जो भ्रम अथवा शाप के कारण हो। पहले में तो जान-बूझकर प्रवासी होना पड़ता है। यह तीन प्रकार का हो सकता है—भ्रत, भविष्यत और वर्तमान। दूसरा प्रवास अचानक होता है और उसमें देव-कृत अथवा मनुष्य-कृत उत्पात प्रवास का कारण

होता है। शाप से रूप के बदल जाने के कारण प्रेमिकों के पास ही रहने पर भी प्रवास ही समझना चाहिए।

दोनों में से एक के मर जाने पर जो विलाप होता है वह शोक का सूचक है। उसे शृंगार न समझकर करुण रख में गिनना चाहिए। रति वहाँ समझी जायगी जहाँ मृत्यु का निवारण हो सके। जहाँ मृत प्रेमी पुनरुज्जीवित हो जाय वहाँ शृंगार ही मानना चाहिए।

प्रणय-मान और अयोग के कारण विरहिणी नायिका को उत्का कहते हैं। प्रवास के कारण विरहिणी को प्रोवित-प्रतिका; ईर्ष्या के कारण वियुक्त नायिका को कलहांतरिता और जिसका पति अन्य से अनुराग रखता हो उसे खंडिता कहते हैं।

जैसा कह चुके हैं, अन्य आचार्यों ने अयोग और विप्रयोग दोनों को एक में संमिलित कर उसे 'विप्रलंभ' संज्ञा दी है, जिसकी सीधी-सादी व्याख्या है 'वियोग के समय होनेवाली रति'

संयोग के समय जो रति होती है उसे संयोग, अथवा संभोग शृंगार कहते हैं। संयोग शृंगार के लिये इतना ही आवश्यक नहीं है कि नायक-नायिका पास रहे। खंडित नायिका, और नायक यदि एक दूसरे के स्पर्श भी कर रहे हों तो भी वियुक्त ही कहलायेंगे। ऐसी अवस्था में संयोग शृंगार नहीं होगा, विप्रलंभ (धनंजय आदि के अनुसार विप्रयोग) होगा। संयोग और वियोग चित्त की वृत्ति पर अवलंबित हैं। हम संयुक्त हैं अथवा वियुक्त, नायक-नायिका के इन भावों के आधार पर ही संयोग-वियोग का निश्चय किया जा सकता है। अतएव संयोग के लिये यह आवश्यक है कि सामीप्य के साथ साथ दोनों में एकचित्तता तथा परस्पर-अनुकूलता हो, और उसके कारण प्रसन्नता भी हो। इसी लिये धनंजय ने संभोग शृंगार की व्याख्या इस प्रकार की है—संभोग शृंगार उसे कहते हैं जिसमें दोनों विलासी (नायक-नायिका) परस्पर अनुकूल होकर दर्शन स्पर्श आदि के द्वारा आनंदपूर्वक एक-दूसरे का सेवन (उपभोग) करते हैं। जैसे, नीचे लिखे पद्म से व्यंजित होता है—

संसर्ग अति लहि हम मिलाए, मुदित कपोल कपोल सों ।
दृढ़ पुलकि आलिंगन कियो भुज मेलि तब भुज लोल सों ॥
कञ्जु मंद वानी सन विगत क्रम, कहत तोसों भामिनी ।
गए वीत चारहु पहर वै नहिं, जात जानी जामिनी ॥

[उत्तर-रामचरित]

शृंगार रस सबसे अधिक व्यापक रस है । इसमें आठों स्थायी भावों का, आठों साहिवकों का और सभी संचारियों का रस-पुष्टि के लिये उपभोग हो सकता है । परंतु रस-पुष्टि के लिये इनका उपयोग करने में निपुणता की आवश्यकता है, नहीं तो रस-विरोध होने के कारण उसके आस्वादन में व्यवधान पड़ेगा । कई रस ऐसे हैं जो स्वभावतः एक-दूसरे के विरोधी हैं । इनका विवरण आगे, रस-विरोध के प्रकरण में, यथास्थान दिया जायगा । इसी प्रकार आलस्य, उत्तरा, मरण और जुगुप्सा, संचारी आश्रय-भेद से अथवा एक ही आलंबन विभाग के संबंध में नहीं प्रयुक्त किए जाने चाहिए । अन्यथा रस की चरण में बाधा पड़ेगी ।

अपने अथवा पराए परिधान, वचन अथवा क्रिया-कलाप से उत्पन्न हुए हास का परिपुष्ट होना हास्य-रस कहलाता है । पंडितराज जगन्नाथ हास्य-रस आलंबन का दूसरा ही अर्थ लेते हैं ।

आलंबन का विकृत दशा आदि में देखने-मात्र से जो हास स्वतः उत्पन्न होता है वह आलंबन और जो उस पर दूसरे के हँसते देखकर उत्पन्न होता है वह परस्थ । हास्य के छः भेद होते हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, और अतिहसित । जिसमें केवल नेत्र विकसित हों उसे स्मित, जिसमें कुछ कुछ दाँत भी दिखाई दें वह हसित, जिसमें मधुर ध्वनि भी हो वह विहसित, जिसमें सिर हिलने लगे वह उपहसित, जिसमें हँसते-हँसते आँसू आने की नौबत आ जाय वह अपहसित और जिसमें सारा शरीर हिलने लगे तथा पेट में बल पड़ जाय उसे अतिहसित कहते हैं । स्मित और हसित उत्तम पुरुष में, विहसित और उपहसित मध्यम पुरुष में, और अपहसित और

अतिहसित अधम पुरुष में माने गए हैं। निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि और मूर्छा हास्य के सहायक संचारी हैं।

प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्त्व (धैर्य), अविषाद (हर्ष), नय, विस्मय, विक्रम आदि विभावों से उत्साह स्थायी का परिपाक होने पर

वीर-रस वीर-रस होता है। इसमें मति, गर्व, धृति और प्रहर्ष संचारी सहायक होते हैं। वीर-

रस तीन प्रकार का माना जाता है—दयावीर, दानवीर और युद्धवीर। नागानंद में जीमूतवाहन दयावीर के, महावीर-चरित में राम युद्धवीर के तथा पौराणिक आख्यानों में राजा बलि दानवीर के उदाहरण हैं। परंतु वीर-रस को इन तीन भेदों में विभाजित करने में अव्याप्ति दोष है। वीर इसी भाँति और भी कई प्रकार के हो सकते हैं। सत्यवीर जैसे राजा हरिश्चंद्र, धर्मवीर जैसे हकीकित राय इत्यादि, पर इन सब में प्रधान युद्धवीर ही है।

आश्चर्यजनक लौकिक पदार्थों से अद्भुत रस होता है। साधुता (वाहवाही, आश्चर्य-प्रकाशन), अश्रु, वेपथु, स्वेद और अद्भुत-रस गद्गगद वाणी—ये इसके अनुभाव होते हैं और हर्ष, आवेग, धृति आदि इसके पोषक संचारी भाव।

उदाहरण—

लीनहो उखारि पहार विसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो ।

माझत-नंदन माझत को, मन को, खगराज को बेग लजायो ॥

तीखी दुरा दुलसी कहतो पै हिए उपमा को समाउ न आयो ।

मानो प्रतच्छ परब्रह्म को नभ लीक लसी कपि थों धुकि धायो ॥

[दुलसीदास]

बीभत्स-रस का आधार जुगुप्सा है। इसमें कीड़े, सड़न, कै आदि

बीभत्स-रस से उद्गेग होता है। रक्त, अँतिडियाँ, हङ्कियाँ

और मज्जा-मांस आदि के दर्शन से ज्ञोभ होता है। वैराग्य होने पर जब स्थियों की जंघाओं तथा स्तन आदि अंगों

पर धृणा होती है तब भी वीभत्स रस ही की प्रतीति होती है। इसमें नासा-संकोच और मुख मोड़ना आदि अनुभाव और आवेग, व्याधि-था शंका—ये संचारी भाव होते हैं। मालती-माधव का यह पद्य वीभत्स का अच्छा उदाहरण है—

उत्तिन उत्तिन चाम फेरि ताहि काढत हैं,
लोथि कौं उठाइ भर्खैं ऐसे वे-अतंक हैं।
सरयो मांस कंधों जांध पीठ औं नितंवनु कौं,
सुलभ चबाइ लेत रुचि सौं निसंक हैं॥
रैंथि डारैं नाड़ी नेत्र आंत औं निकारैं दाँत
लिथरै सरीर जिन सोनित की पंक हैं।
अस्थिनु पै ऊँचौ नीचौ और तिन बीच हूँ कै;
धीरे धोरे कैसे मांस खात प्रेत रंक हैं॥

बीभत्स और हास्य-रस के विषय में एक शंका उत्पन्न हो सकती है। रस का आधार स्थायी भाव है। भाव के लिये एक आलंबन चाहिए और एक आश्रय। आलंबन तो वह है जिसे देखकर भाव उदय हो और आश्रय वह है जिसके मन में उस भाव का उदय होता है। जैसे शृंगार-रस में नायक अथवा नायिका यथा-अवसर आश्रय अथवा आलंबन हो सकते हैं। हास्य और बीभत्स-रस के संबंध में आलंबन तो क्रमशः अपने अथवा अन्य के अंग, वाणी अथवा क्रियाविकार तथा धृणोत्पादक वस्तुएँ हैं; पर आश्रय कौन है? स्थायी भाव किसके मन में उदित होता है? उसका तो इसमें कहीं वर्णन नहीं होता। क्या सुननेवाले को ही उसका आश्रय भी मानते? परंतु वह हो नहीं सकता क्योंकि सुननेवाला तो रस का आस्वादन करता है, भाव का अनुभव नहीं करता। पहले तो यह बात सदैव नहीं होती कि इन रसों के संबंध में आश्रय का उल्लेख न हो। ऊपर मालती-माधव से जो पद्य उद्धृत किया गया है उसमें माधव आश्रय है। परंतु यदि आश्रय का स्पष्ट उल्लेख न भी हो तो पंडितराज जगन्नाथ जी

की यह संमति है कि ऐसी अवस्था में किसी दर्शक का ऊपर से आन्त्रेप कर लेना चाहिए।

विकृत स्वर और अवैर्य आदि विभावों से उदित भय स्थायी से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इसमें वेपथु, स्वेद, शोक और वैचित्र्य—ये अनुभाव और दैन्य, संभ्रम, भयानक-रस मोह, त्रास आदि संचारी उसके सहायक होते हैं।

उदाहरण—

हरहरात इक दिसि पीपल कौ पेड़ पुरातन।

लटकत जामें धंट घने माटी के बासन॥

वर्धा ऋतु के काज और हू लगत भयानक।

सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक॥

ररत कहू मंड्हक कहू भिज्जी भनकारै॥

काक-मंडली कहू अमंगल मंत्र उचारै॥

भई आनि तब साँझ घटा आई धिरि कारी॥

सनै सनै सब ओर लगी बादन अँधियारी॥

भए इकड़ा आनि तहाँ डाकिनि पिचास गन॥

कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन॥

आकृति अति विकराल धरे कुइला से कारे॥

बक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे॥

[संलाकर]

शत्रु के प्रति मत्सर तथा धृणा आदि भावों से विभाजित, क्षोभ, अपने होठों के दाँतों से दबाना, कंप, भुकुटी टेढ़ी करना, पसीना, मुख रौद्र-रस का लाल होना, शखाखों के चमकाना, गर्वोक्ति करते हुए कंधे फैलाना, धरणी को जोर से चॉपना, प्रतिज्ञा करना आदि अनुभावों से परिवृद्धि तथा अर्मष, मद, सृति, चपलता, असूया, उग्रता, आवेग आदि संचारियों से परिपृष्ठ कोध स्थायी को रौद्र-रस कहते हैं।

उदाहरण—

बारि टारि डारौं कुंभकर्नहिं विदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आज यों बल-अनंत हैं ।
कहै पदमाकर त्रिकृट ही को ढाहि डारौं,
डारत करेई यात्रुधानन के श्रंत हैं ॥
अच्छहिं निरच्छ कपि सच्छ है उचारौं, इमि
तोंसे तिच्छ तुच्छन के कछुवै न गंत हैं ।
जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपयन,
फारि डारौं रावण के सौ मैं हनुमंत हैं ॥

[पद्माकर]

शोक स्थायी से करुण-रस होता है । इसमें इष्ट-नाश अथवा अनिष्टा-गम आदि विभाव और निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तंभ, प्रलाप आदि करुण-रस अनुभाव तथा निदा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि, मरण, आलस्य, आवेग, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिंता आदि संचारी भाव सहायक होते हैं । इष्ट-नाश से करुण—
मेरो सब पुरुषारथ याको ।

विपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसौ काको !
सुनु सुग्रीव संचेहूँ मौपर केरूयौ बदन विधाता ।
ऐसे समय समर-संकट हैं तज्यौं लषन सम भ्राता ॥
गिरि कानन जैहैं साखामृग हैं पुनि अनुज-सँधाती ।
है है कहा विभीषण की गति रही सोच भरि छाती ।

[तुलसीदास]

ख्लावली नाटिका में सागरिका का कैद किया जाना अनिष्टागम से करुण का अच्छा उदाहरण है ।

यह कहा जा चुका है कि प्राचीन नाट्याचार्य शांत के नाट्यरस में नहीं गिनते थे, और यह भी बताया जा चुका है शांत-रस कि शांत-रस के क्यों नाट्य-रस मानना चाहिए । यम नामक स्थायी भाव के परिपाक की अवस्था में पहुँचने से शांत-

रस होता है। सांसारिक सुख तथा देह की क्षणभंगुरता, संत-समागम और तीर्थाटन आदि इसके विभाव हैं तथा सर्वभूतदया, परमानंद की अवस्था, तल्लीनता, रोमांच आदि इसके अनुभाव हैं। मति, चिता, धृति, स्मृति, हर्ष आदि संचारी भाव इसके परिपोषक हैं।

उदाहरण—

(१)

हाथी न साथी न धोरे न चेरे न गाँड़ न ठाड़ को ठाड़ बिलैहै ।

तात न मात न पुत्र न मित्र न बित्त न तीय कहीं सँग रैहै ॥

'केशव' काम को राम विसारत और निकाम न कामहि ऐहै ।

चेति रे चेति अर्जौं चित अंतर अंतकलोक अकेलोई जैहै ॥

[केशव]

(२)

राहमन निज मन की विधा, मन ही राखौ गोय ।

सुनि अठलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥

[रहीम]

(३)

भागीरथी जलपान करौं

अह नाम द्वै राम के लेत नितै हैं ।

मोको न लेनो न देनो कछूं,

कलि ! भूलि न रावरी ओर चितैहैं ॥

जानि कै जोर करौं परनाम,

तुम्हैं पछतैहैं पै मैं न मितैहैं ।

ब्राह्मन ज्यों उर्गिल्यो उरगारि

हौं त्यौंही तिहरे हिये न हितैहैं ॥

[तुलसी]

शांत-रस सर्वोत्तम रस है, पर कई लोग उसे रस ही नहीं मानते। जो शांत का रस मानते भी हैं वे उसका सज्जा विवेक और आस्वाद नहीं कर पाते। प्रायः देव-विषयक रति अथवा शुष्क ज्ञान को ही वे

शांत-रस समझ वैठते हैं। अतः इन उदाहरणों पर ध्यान से विचार करना चाहिए कि ये भाव के नहीं, शांत-रस के उदाहरण हैं। शांत में दो बातें स्पष्ट होनी चाहिए—निर्वेद और मनोयोग (अर्थात् मानसिक-शांति)। पहले उदाहरण में क्षणभंगुरता दिखाकर निर्वेद की पुष्टि तथा मनःशांत की सिद्धि वर्णित है। दूसरे में शांत मनुष्य अपनी अनुभूति का रहस्य खोल रहा है कि 'अपने मन को ही साधो, व्यर्थ दूसरों से कहकर अपना दुःख न बढ़ाओ।' इस पंक्ति में वेदना, निर्वेद और शांति की बड़ी गंभीर भावना है। तीसरा उदाहरण इन दोनों से अच्छा है क्योंकि उसमें ज्ञान की अपेक्षा भाव अधिक है। इसमें कवि स्पष्ट ही अपनी निर्द्वंद्वता अभिव्यक्त कर रहा है। पहली पंक्ति में जो गंगा और राम की चर्चा है वह निर्वेद की पोषक है, अतः यह भी कोई दोष नहीं हो सकता।

रस-विरोध को हमने उपयुक्त स्थान के लिये छोड़ दिया था। अब उसका वर्णन कर देना अच्छा होगा। कुछ रस स्वभाव ही रस-विरोध से आपस में विरोधी माने गए हैं। करुण, श्रीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक, शृंगार के; करुण और भयानक, हास्य के; हास्य और शृंगार, करुण के; हास्य शृंगार, भयानक और अद्भुत, रौद्र के; भयानक और शांत, वीर के; शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शांत, भयानक के; शृंगार श्रीभत्स का; रौद्र अद्भुत का और शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और भयानक शांत-रस के विरोधी माने जाते हैं। जहाँ शृंगार की चर्चा हो, वहाँ जुगप्ता, क्रोध, शोक और भय के भावों की चर्चा रंग में भंग करना ही मानी जायगी। इसी प्रकार शोक के समय हँसी मजाक अथवा प्रेम का राग अलापना तथा हँसी के अवसर पर शोक और भय करना भी अवसरोचित नहीं है। ऐसे ही और के विषय में समझना चाहिए।

परंतु प्रत्येक दशा में विरोधी रसों का एक साथ वर्णन सदोष नहीं होता। दोष तभी होगा जब विरोधी रस या तो एक ही आलंबन या

एक ही आश्रय से संबंध रखते हों या इतने सन्निकट हों कि एक दूसरे के ज्ञान के बाधित करें। पहले दो के स्थिति-विरोध कहते हैं और तीसरे को ज्ञान-विरोध। विरोधी रसों के अलग अलग आलंबनों अथवा आश्रयों में स्थित कर देने से स्थिति-विरोध का निराकरण हो जाता है और अविरोधी रस के विरोधी रसों के मध्य में रखने से ज्ञान-विरोध का। रस-गंगाधर से इन दोनों के उदाहरण यहाँ पर दिये जाते हैं—

‘हे राजन्, खैचकर कुड़ली धनुष का हाथ में लिए हुए आपके सामने शत्रु वैसे ही नहीं ठहर सके जैसे मृग सिंह के सामने नहीं ठहर सकते।’ इसमें वीर और भयानक रस एक ही साथ आया है परंतु यहाँ स्थिति-विरोध इसलिये नहीं आ पाया है कि दोनों का अलग अलग नायकों से संबंध है। इसी प्रकार ‘अप्सराओं से आलिंगित, विमानों में बैठे हुए वीर आकाश से, पृथ्वी पर सियारियों से घिरे हुए अपने शवों को देख रहे हैं’ से परस्पर ज्ञान-बाधक रसों का वर्णन होने पर भी ज्ञान-विरोध का परिहार हो गया है क्योंकि दोनों के बीच में एक अविरोधी रस रख दिया गया है। “अप्सराओं से आलिंगित” कहने से शृंगार रस की व्यंजना होती है और “सियारियों से घिरे हुए अपने शवों को देख रहे हैं” से बीभत्स की। ये दोनों परस्पर ज्ञान-विरोधी हैं। इनके बीच ‘स्वर्ग-यात्रा से वीर रस का आक्षेप किया गया है जिससे ज्ञान-विरोध की शांति हो गई है। एक साथ दो विरोधी रसों को लाने के इच्छुक नाट्यकारों तथा कवियों को इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक बतलाया गया है।

यहाँ तक रसों का विवेचन हो चुका है। सारांश यह कि सब प्रकार के काव्य की आत्मा रस है। बिना आत्मा के शरीर

शैली का रूप निर्जीव होकर त्याज्य हो जाता है। पर आत्मा के रहते हुए भी शरीर के बाह्य सौदर्य को बढ़ाने और आकर्षक बनाने की आवश्यकता रहती है। इसी का तात्पर्य काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष से है। दोनों का नित्य संबंध है,

जो सदा अचुलण बना रहता है। जहाँ एक का दूसरे से विछोह हुआ वहाँ काव्य की अंतरात्मा को अपने को प्रकट करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती। तात्पर्य यह है कि कवि या लेखक की सामग्री चाहे कैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके भाव, विचार तथा कल्पनाएँ चाहे कितनी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हों, जब तक उसकी कृति में रूप-सौंदर्य नहीं आएंगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा रूप न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठुव और प्रभावात्पादकता के सिद्धांतों के अनुकूल हो, तब तक उसकी कृति काव्य न कहला सकेगी। इसी लिए कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्धितत्त्व, कल्पनातत्त्व और भावतत्त्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व भी है जिसे शैली या रूपचमत्कार कह सकते हैं। इसी बात को लेकर महाकवि कालिदास ने रघुवंश के आदि में वंदना करते हुए कहा है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतोपरमेश्वरौ ॥

अर्थात् वाक् और अर्थ की भाँति संपृक्त जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वंदना इसलिये करता हूँ कि जिसमें वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति हो। यहाँ वाक् और अर्थ से वही प्रयोजन है जो कलापक्ष तथा भावपक्ष अथवा भाव और शैली से है। इसी लिये रचना-चमत्कार का शैली का नाम दिया जाता है।

किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। एक विद्वान् के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली के विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

काव्य की अतरात्मा का हम विशेष रूप से विवेचन कर चुके हैं। अब उसके बाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है; क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो संसार के उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। वह उसका अंग है। उसी में उसके जीवन और कर्तव्य का साफल्य है। वह अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं के दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं के स्वयं जानना चाहता है। सारांश यह है कि मनुष्य-समाज में भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय नित्य प्रति होता रहता है। भावों, विचारों और कल्पनाओं का यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खड़ा होता है। जिस जाति का यह प्रासाद जितना ही मनोहर, विस्तृत और भव्य होगा, वह जाति उतनी ही उन्नत मानी जायगी। इसके अतिरिक्त हमें अपने पक्ष में करना और कभी प्रसन्न करना पड़ता है। यदि वे शक्तियाँ आदि अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान न हों तो मनुष्यों के सब काम रुक जायँ। साहित्य-शास्त्र का काम इन्हीं शक्तियों को परिमार्जित और उत्तेजित करके उन्हें अधिक उपयोगी बनाना है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हममें नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान रहती हैं; और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममें रहती है। अब यदि उस शक्ति को बढ़ाकर, संस्कृत और उन्नत करके, हम उसका उपयोग कर सकें तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान-भंडार की बुद्धि करके उसका बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति के साहित्य में शैली कहते हैं।

✓ हम कह चुके हैं कि मनुष्य को प्रायः दूसरों को समझाना, किसी कार्य में प्रवृत्त करना अथवा प्रसन्न करना पड़ता है। ये तीनों काम मनुष्य को भिन्न भिन्न तीन मानसिक शक्तियों से संबंध रखते हैं।

समझना या समझाना वुद्धि का काम है; प्रवृत्त होना या करना संकल्प का काम है और प्रसन्न करना या होना भावों का काम है। परंतु प्रवृत्त करने या होने में वुद्धि और भाव दोनों सहायक होते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हम संकल्प-शक्ति को मनोनीत रूप देने में समर्थ होते हैं। वुद्धि की सहायता से हम किसी बात का वर्णन, कथन या प्रतिपादन करते हैं; और भावों की सहायता से काव्यों की रचना कर मनुष्य का समस्त संसार से रागात्मक संबंध स्थापित करते हैं। इसलिये शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि मनुष्य के ऊपर कहे दुए तीनों कामों को पूरा करने के लिये हम अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इस बात का विचार करें कि यह प्रभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

✓ भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और शब्दों का महत्व उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द है जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल का ही शैली का मूल तत्त्व समझना चाहिए। प्रायः देखने में आता है कि जिन लेखकों की लेखन-शैली प्रौढ़ नहीं है, जो अभी अपने साहित्यिक जीवन की प्रारंभिक अवस्था में ही हैं, उनकी कृतियों में शब्दों का बहुल्य और भावों तथा विचारों आदि की न्यूनता रहती है। ज्यों ज्यों उनका अनुभव पड़ता जाता है और उनमें लेखन-शक्ति की वुद्धि होती जाती है त्यों त्यों उनमें शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों आदि में समानता आ जाती है और प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट देख पड़ती है। उस समय ऐसा जान पड़ता है मानों शब्दों और भावों में होड़ मवी हुई है। दोनों कवि या लेखक की कृति में अव्यसर होकर प्रधान स्थान ग्रहण करने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। पर इस दौड़ में शब्द पीछे

रह जाते हैं और भाव आगे निकल जाते हैं। एक ही भाव के लिये अनेक शब्द मिलने लगते हैं और लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को प्रहण करने, सूचम से सूचम भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी बड़ी गंभीर और भावपूर्ण बातें कहने में समर्थ होता है। अतएव प्रारंभिक अवस्था में प्रायः शब्दाङ्कर ही अधिक देख पड़ता है। उस समय लेखक को अपने भाव स्पष्ट करने के लिये अनेक शब्दों को खोज-खोजकर लाना और सजाना पड़ता है। इससे प्रायः स्वाभाविकता की कमी हो जाती है और शब्दों की छटा में भी वैसी मनोहरता नहीं देख पड़ती। एक ही बात अनेक प्रकार के शब्दों और बाक्यों में धुमाफिराकर कहनी पड़ती है। पर प्रौढ़ावस्था में ये सब बातें नहीं रह जातीं। वहाँ तो एक शब्द के भी घटाने-बढ़ाने की जगह नहीं रहती। जो लेखक या कवि विद्याव्यसनी नहीं होते, जिन्हें अपने विचारों को प्रौढ़ करने का अवसर नहीं मिलता, या जिनकी उस और प्रवृत्ति नहीं होती, उनमें यह दोष अंत तक वर्तमान रहता है और उनकी कृति वाग्बाहुल्य से भरी रहती है। इसलिये लेखकों या कवियों के शब्दों के चुनाव पर बहुत ध्यान देना चाहिए। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है; और यह गुण प्रतिपादित करने में उन्हें दृत्तचित्त रहना चाहिए। इस कार्य में स्मरण-शक्ति बहुत सहायता देती है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। इस नीव पर यह सुंदर प्रासाद स्वड़ा किया जा सकता है। अतएव यह आवश्यक ही नहीं बल्कि आनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भांडार बहुत प्रचुर हो और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण रहे कि मेरे भांडार में कौन कौन से रत्न कहाँ रखे हैं, जिसमें प्रयोजन पड़ते ही मैं रत्नों को निकाल सकूँ। ऐसा न हो कि उनको ढूँढ़ने में ही मुझे बहुत-सा समय नष्ट करना पड़े और अंत में भूठे कांतिहीन रत्नों को इधर-उधर से मँगनी मँगकर अपना काम चलाना पड़े।

कवि या लेखक के लिये शब्द-भांडार का महरव कितना अधिक है, यह इसी से समझ लेना चाहिए कि यूरोप में साहित्यालोचकों

ने बड़े बड़े कवियों और लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की गिनती तक कर डाली है और उससे वे उनके पांडित्य की थाह लेते हैं। हमारे यहाँ इस ओर अभी ध्यान नहीं गया है। परंतु जब तब ऐसा न हो, तब तक उनकी भावों के व्यंजन करने की शक्ति और उसके द्वाग के आधार पर ही हमें उनके विषय में अपने सिद्धांत स्थिर करने होंगे। हम किसी कवि या लेखक के ग्रंथ को ध्यानपूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, उसने शब्दों का कैसा प्रयोग किया है और कहाँ तक वह इस कार्य में दूसरों से बढ़ गया या पीछे रह गया है। इसी प्रकार हम यह भी सहज ही में जान सकते हैं कि किस प्रकार के भाव प्रकट करने में कौन कहाँ तक सफल हुआ है। यह अनुमान करना कि सब विषयों पर लिखने के लिये सबके पास यथेष्ट शब्द-सामग्री होगी, उचित नहीं होगा। न तो सब मनुष्यों का स्वभाव एक-सा होता है और न उनकी रुचि ही एक-सी होती है। इस अवस्था में यह आशा करना है कि सब में सब विषयों पर अपने भाव प्रकट करने की एक-सी शक्ति होगी, जान-वृक्षकर अपने के भ्रम में डालना होगा। संसार से हमको रुचि-वैचित्र्य का निरंतर साक्षात्कार होता रहता है; और इसी-वैचित्र्य के कारण लोगों के विचार और भाव भी भिन्न होते हैं। अतएव जिसकी जिस बात में अधिक रुचि होगी, उसी के विषय में वह अधिक सोचे-विचारेगा और अपने भावों तथा विचारों को अधिक स्पष्टता और सुगमता से प्रकट कर सकेगा। इसी कारण उस विषय से संबंध रखनेवाला उसका शब्द-भांडार भी अधिक पूर्ण और विस्तृत होगा। पर इतना होते हुए भी शब्दों के प्रयोग की शक्ति केवल रुचि पर निर्भर नहीं हो सकती। रुचि इस कार्य में सहायक अवश्य हो सकती है; पर केवल उसी पर भरोसा करने से शब्दों का प्रयोग करने की शक्ति नहीं आ सकती। यदि हम कई भिन्न-भिन्न पुरुषों को चुन लें और उन्हें गिने हुए सौ दो सौ शब्द देकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार

अपने ही चुने हुए विषयों के संबंध में अपने अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिये कहें, तो हम देखेंगे कि सामग्री की समानता होने पर भी उनमें से हर एक का ढंग निराला है। यदि एक में विचारों की गंभीरता, भावों की मनोहरता तथा भाषा का उपयुक्त गठन है, तो दूसरे में विचारों की निस्सारता, भावों की अरोचकता और भाषा की शिथिलता है; और तीसरे में भावों और विचारों की ओर से उदासीनता तथा वाग्बाहुल्य की ही विशेषता है। इसलिये केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों में प्रयोग के ढंग पर विचार करना भी नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन करना चाहिए कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार सजाए गए हैं और उनको वाक्यरूपी माला में चुनकर गूँथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिराए नहीं जाते, तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अंतर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्त्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारू रूप से उनके सजाए जाने पर ही होता है। अतएव हम वाक्यों के विचार के साथ ही इनका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्त्व का है। रचना शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस संबंध में सबसे पहली बात, जिस पर हमें विचार करना चाहिए, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को

हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करनेवाले शब्दों का हमें उपयोग करना चाहिए। बिना सोचे-समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की सुंदरता नष्ट करता और लेखक के शब्द-भांडार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानी प्रकट करता है। अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिए।

इसके अनंतर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेक प्रकार वाक्यों की विशेषता बताए हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिये सबसे अधिक अच्छा वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योचय कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं हो जाता। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

“चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अंत यदि किसी बात से हो सकता है, तो वह केवल स्वराज्य से है।”

इस वाक्य का प्रधान अंग “वह केवल स्वराज्य से हो सकता है” है, जो सबके अंत में आता है। इस अंतिम अंश में कर्ता “वह” है। पहले के जितने अंश हैं, वे अंतिम वाक्यांश के सहायक-मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव की पुष्टिमात्र करते हैं और पढ़नेवाले या सुननेवाले में उत्कंठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अंत तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढ़ते ही कि “चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें” हम यह जानने के लिये उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढ़ते ही वह हमारी जिज्ञासा को संकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात

पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिये हमारी उत्सुकता को विशेष जागरित कर देता है। अंतिम वाक्यांश को पढ़ते ही हमारा संतोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढ़नेवाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात, जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने चाह्या है वह, शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो, यदि एक वाक्यांश कहकर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिये अनेक ऐसे छोटे छोटे शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक हों, तो छोटे छोटे वाक्यांशों की भूलभुलइयाँ में सुख्य भाव प्रायः लुप्त-सा हो जायगा, और वह वाक्य अपनी जटिलता के कारण पढ़नेवाले को निरुत्साहित कर उसको जिज्ञासा मंद कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्योच्चय बहुत बड़े तथा लंबे न हों। उनके बहुत अधिक विस्तार से संघटनात्मक गुणों का नाश हो जाता है और वे मनोरंजक होने के बदले अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यों की लंबाई या विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। यह तो लेखक के अभ्यास, कौशल और सौष्ठुव-बुद्धि पर निर्भर है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेख या भाषण के विषय के आधार पर इस सीमा को निर्धारित करना उचित होगा। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा बांछनीय है। सरल और सुवेदी विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों, तो उनसे उतनों हानि नहीं होती। कई लेखकों में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे जान-बूझकर अपने वाक्यों को विस्तृत और जटिल बनाते हैं और उन्हें अनावश्यक वाक्यांशों से लादे चलते हैं।

इसका परिणाम यह होता है कि पढ़नेवाले उब जाते हैं और प्रायः लेखक स्वयं वह बात भूल जाता कि किस मुख्य भाव को लेकर मैंने अपना वाक्य आरंभ किया था। ऐसे वाक्य के समाप्त होते ही वह मुख्य भाव भूलकर और किसी दूसरे गौण भाव को लेकर आगे दौड़ चलता है और अपने वाक्यों में परस्पर संबंध स्थापित करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस भारी दोष से बचने ही मैं लाभ है।

जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक से रूप और आकार के होते हैं, तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं। इन समीकृत वाक्यों की समरूपता या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती है अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निभेर रहती है। इन वाक्यांशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्रायः भिन्न ही होते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये हम एक उदाहरण देते हैं—

“चाहे हमारी निंदा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो चाहे हम अभी बरसों जोएँ, चाहे हमें लक्ष्मी स्वीकार करे चाहे हमारा सारा जीवन दीर्घियमय हो जाय, परंतु जो व्रत हमने धारण किया है, उससे हम कभी विचलित न होंगे।”

इस प्रकार के वाक्यों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है—एक तो जब वाक्यों की श्रृंखला किसी एक हो प्रणाली पर बनाई जाती है, तब वह हमारी स्मरण-शक्ति को सहायता पहुँचाती है और एक से वाक्यांशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है; और जब हम यह जान लेते हैं कि भिन्न-भिन्न वाक्यांशों में किस बात में समानता है, तब हमें केवल उनकी विभिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रबंध-रचना का यह साधारण नियम है कि यदि दो वस्तुओं में समानता दिखाई जाय, तो रचना में भी उनको समान ही स्थान मिलना चाहिए। समीकृत वाक्यों द्वारा रचना के इस सिद्धांत का पालन बड़ी सुगमता से हो सकता है।

समीकृत वाक्यों का दूसरा प्रभाव एक प्रकार का सुखद विस्मय उत्पन्न करना है। समरूप वाक्यों द्वारा भिन्न भाव प्रदर्शित करने से मन को आनंद प्राप्त होता है और कुछ कुछ संगीत के लय-सुर का सा अनुभव

होने लगता है। जब एक वाक्यांश द्वारा भिन्न परंतु साथ ही नवीन भाव का उद्बोधन कराया जाता है, तब हमारे आनंद और विस्मय की मात्रा बढ़ जाती है। जैसे यदि हम यह कहें कि 'यह अशक्य तो है पर असंभव नहीं' अथवा 'यह कठिन तो है पर अशक्य नहीं' तो यहाँ अशक्य और 'असंभव' तथा 'कठिन' और 'अशक्य' के संयोग से वाक्यांश में एक प्रकार की विशेषता आ जाती है जो हमारे आनंद और विस्मय का कारण होती है। इसी प्रकार यदि हम और परिमार्जित करके केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न भिन्न स्थान दें, जैसे तुम्हारा कहना अविश्वसनीय है पर असत्य नहीं, और उसका कहना असत्य है पर 'अविश्वसनीय नहीं' तो वाक्यांश की सुंदरता, आनंददायिता और विस्मयकारिता और भी बढ़ जाती है।

वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु अवधारण का संस्थान है; अर्थात् इस बात का ध्यान रखना कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक जोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। साधारण नियम यह है कि जिस बात पर जोर देना हो, वह वाक्य के आदि अथवा अंत में रखी जाय। आदि में रहने से वह पहले ही ध्यान आकर्षित करती है और अंत में रहने से मृति म अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिये छोड़ देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण को आदि या अंत में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्यगुण से संपन्न हो जाता है।

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों का शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लचणा और व्यंजना। वास्तव भारतीय शैली के आधार में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किंतु एक प्रकार से उनके अर्थों के भेद हैं। इस कारण इनका महत्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका

कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ ही लिया जाता है; परंतु वाक्यों में पिरोए जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुकूल वाक्य, लद्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उसके संबंध में तो केवल लक्षण और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है, पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ। पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; इसलिये जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसंग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देश-बल, काल-भेद और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है' कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल 'पानी' ही लिया जा सकता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ 'जीवन' का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिये कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी संगति वैठे, वहाँ शब्द की लक्षण शक्ति से काम लेना पड़ता है। जैसे—

अंग श्रंग नग जगमगत, दीप-शिखा-सी देह।

दिशा वदाये हू रहै, वडो उजेरो गेह॥

यहाँ बढ़ाने का अर्थ 'बृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता; और 'दीया बढ़ाने' से मुहाविरे का अर्थ 'दीया बुझाना' करने से दोहे में चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

फलो सकल मनकामना, लूट्यौ अगणित चैन।

आजु अचै हाँ-रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इस दोहे में फलो, लूट्यौ, अचै और भये प्रफुल्लित—ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणतः वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा

सकते हैं, पेय-पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं; पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरिष्वर का अच्छवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है। यहाँ ये सब शब्द अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। इस शब्दशक्ति के अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं! उनमें प्रधान ये हैं—
 (१) उपादान-लक्षणा, (२) लक्षण-लक्षणा, (३) गौणी सारोपा लक्षणा,
 (४) गौणी साध्यवसाना लक्षणा, (५) शुद्धा सारोपा लक्षणा, (६) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा। विस्तार-भय से यहाँ इनके उदाहरण नहीं दिए जा रहे हैं। इनका विस्तृत परिचय साहित्य-ग्रंथों में दिया गया है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है; अर्थात् जिससे साधारण के छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि 'तुम्हारे मुँह से शठता भलक रही है' और इसका उत्तर वह यह दे कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण-रूपी मुँह में प्रतिबिम्ब देखकर शठता की भलक देख ली; इससे वास्तव में तुमने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है; अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं। इसके मुख्य भेद हैं (१) शाब्दी और (२) आर्थी। इनके उपभेद (१) अभिधामूलक शाब्दी व्यंजना और (२) लक्षणामूलक शाब्दी व्यंजना तथा (३) अभिधामूलक आर्थी व्यंजना, (४) लक्षणामूलक आर्थी व्यंजना तथा (५) व्ययसंभवा आर्थी व्यंजना है। इनके भी उद्धरण साहित्य-ग्रंथों में देखने चाहिए।

हमारे शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोत्तम वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है; क्योंकि सबसे अधिक चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य को एक प्रकार का अलंकार माना है; और हमारे यहाँ तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलंकार का बड़ा विस्तार किया गया है। सारांश यही है कि हमारे

यहाँ शब्द की शक्तियों का विवरण देखकर पहले उनके वाक्यों में विशेषता उत्पन्न करनेवाला माना है और फिर अलंकारों में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ानेवाला कहा है। हमारे हाँ काव्यों के अनेक गुण भी माने गए हैं और उन्हें “प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रसधर्म” कहा है। वाक्यों में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्यिक सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रस का संबंध हो जाता है। पर वास्तव में ये गुण शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से संबंध रखते हैं।

यों तो हमारे शास्त्रियों ने अपनी विस्तार-प्रियता और श्रेणी-विभाग की कुशलता के कारण कई गुण माने हैं, पर मुख्य गुण तीन ही कहे गए हैं; यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीनों गुणों का उत्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गए हैं, जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ—गुणों के अनुसार ही—मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद्या वाक्य-रचना की भी तीन रीतियाँ—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली—मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देश-भागों के नामों पर हैं। इससे जान पड़ता है कि उन उन देश-भागों के कवियों ने एक एक ढंग का विशेष रूप से अनुकरण किया था; अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिए गए हैं। माधुर्य गुण के लिये मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिये परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों में किन-किन वर्णों के प्रयोग से कौन-सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन-सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धांतों के अनुसार रचना-शैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा साहित्य-भांडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक काल ही समझना चाहिए। इसलिये गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ

है। अपना कोई विशेष ढंग न होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक होने से हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य-शैली का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है; और यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है! इसी कारण हमने पहले अँगरेजी सिद्धांतों के अनु-कूल शब्दों और वाक्यों के संबंध में विचार किया है। और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का उल्लेख किया है। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर देना आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियों ने यह भी बताया है कि माधुर्य गुण शृंगार, करण और शांत रस का ओज गुण वीर, बीमत्स और रौद्र रस के और प्रसाद् गुण सब रसों के विशेष प्रकार से परिपृष्ठ करता है। पर विशेष विशेष प्रसंगों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य गुण माना गया है। पर यदि नायक धीरोदात्त या निशाचर हो, अथवा अवस्था-विशेष में कुद्ध या उत्तेजित हो गया हो, तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक और अनन्ददायक होगा। इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसों की परिपृष्ठि के लिये गौड़ी रीति का अनु-सरण वांछनीय कहा गया है; पर अभिनय में बड़े बड़े समासों की वाक्य-रचना से दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत संभावना है। जिस बात के समझने में उन्हें कठिनता होगी। उससे चमत्कृत होकर अलौकिक आनंद का प्राप्त करना उनके लिये कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर नियत सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना कोई दोष नहीं माना जाता; बल्कि लेखक या कवि की कुशलता तथा विलक्षणता का ही दोतक होता है।

हम शब्दों और वाक्य के विषय में संक्षेप में लिख चुके हैं। अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है। परंतु जिस अलंकारों का स्थान प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है। जिस प्रकार

आभूषण शरीर की शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसका उत्कर्ष बढ़ते और रस, भाव, आदि का उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के विना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है; उसी प्रकार अलंकार के न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों के एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गए हैं; और वास्तव में काव्य की महत्त्वा इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्त्वा के बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परंतु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान नहीं प्रहरण कर सकते और न उनके अधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं के काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों के उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्त्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है। इसी लिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के

अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात्—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निवंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोड़ने-मरोड़ने की भी आवश्यकता पड़ती है; अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा भेद है। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ श्लेष और जहाँ एक शब्द अनेक बार आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ भी दे, वहाँ यमक अलंकार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बार प्रयोग होता है। कहीं व्यंजन आपस में बार बार मिल जाते हैं, कहीं व्यंजनों का एक प्रकार से एक बार साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बार साम्य होता है। पद के अंत में आनेवाले सस्वर व्यंजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अंतर्गत माना जाता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सबके बड़े ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किए गए हैं। पर इनका तत्त्व यही है कि वर्णों की मैत्री, संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलंकार माना गया है। अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि के प्रभावित करते हैं, अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्त्वों का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं, अर्थात् साम्य, विरोध और साम्बन्ध से। जब समान पदार्थ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे मन पर अंकित हो जाता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षता हमारे मन पर जम जाती है। जब हम एक पदार्थ को

दूसरे के अनंतर और दूसरे को तीसरे के अनंतर देखते हैं, अथवा दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती जाता है और काम पड़ने पर स्मरण-शक्ति की सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं; अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनंतर हमारे ध्यान में अवस्थित होते हैं या जब उनमें से एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन में उसका संबंध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते ही दूसरा आप से आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थिता कहते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारों की संख्या का ठिकाना नहीं है। उन्हें श्रेणीबद्ध करने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया है। इससे बिना आधार के चलने के कारण उनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात का ध्यान दिला देना आवश्यक है कि अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली है, वर्णन का विषय नहीं है। अतएव वर्णित विषयों के आधार पर अलंकारों की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। स्वभावोक्ति और उदात्त अलंकारों का संबंध वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलंकारों में नहीं हानी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटाकर ६१ भी मानी है; पर इनमें भी एक अलंकार के अनेक भेद तथा उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तटस्थिता के विचार से हम इन अलंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें के उपभेदों को घटाकर अलंकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमें केवल पद-विन्यास के संबंध में कुछ विचार करना है। पदों से हमारा तात्पर्य वाक्यों के समूहों से है। किसी विषय पर कोई पद-विन्यास में यह लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य मुख्य विभाग कर लिए जाते हैं जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक

अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय को प्रधान प्रधान बातें एक एक परिच्छेद में आ जायें; उनकी आवृत्ति करने को आवश्यकता न पड़े और न वे एक-दूसरे को अतिव्याप्त करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से संबद्ध जान पड़ेगे और प्रतिपादित विषय को हृदयंगम करने में सुगमता होगी। परिच्छेदों में प्रधान विषयों को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है, जिसमें पदों की एक पूर्ण शृंखला-सी बन जाय। इस शृंखला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी शृंखला अव्यवस्थित और असंबद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक-दूसरे से इस आंति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय, तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रखकर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिए। इस संबंध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा संकरण; और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्तन। वाक्यों के संबंध और संकरण में उच्छ्रृंखलता का बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना चाहिए कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले जा रहे हैं और अंत में परिणाम पर पहुँचकर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपर्युक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के संबंध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम

वाक्यों के संबंध में विवेचन करते हुए तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—का उल्लेख कर चुके हैं; तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के संबंध

में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं।

शैली के गुण पाञ्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो

भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और पप्रता का और रागात्मक में शक्ति, करुण और हास्य का गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, स्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान पड़ता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद के तीनों गुण अधिक संगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ आचार्यों ने इन गुणों और शब्दार्थात्मकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग के सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अंतरात्मा के अंतर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुंदर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं। अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

शैली के संबंध में हमें अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। कविता के विवेचन में गद्य और पद्य के

वृत्त

संबंध में विचार करते हुए हम इस बात पर जोर

दे चुके हैं कि गद्य और पद्य का मुख्य भेद वृत्त,

पर निर्भर रहता है। काव्य-कला और संगीत-कला के पारस्परिक संबंध का भी हम उल्लेख कर चुके हैं। इस संबंध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य, संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। जब हम

यह समझ चुके हैं कि कविता समस्त दृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाए रहती है, तब इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्वादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के इस अंग पर विशेष विचार किया है और इसका आवश्यकता से अधिक विस्तार भी किया है। संगीत कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने तथा भिन्न भिन्न सुरों और लयों में परस्पर मित्रता का संबंध स्थापित करने के लिये हमारे यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा शब्दालंकारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों बातें भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्षसाधक हैं। परंतु पिंगलशास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा उनका पारस्परिक संयोग, अथवा उनकी संख्या है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गए हैं—एक मात्रामूलक और दूसरा वर्णमूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु-गुरु के विचार से मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना को सुगम करने तथा मात्राओं का तारतम्य व्यवस्थित करने के लिये गुणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों के प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छंदों में जिन स्थानों पर वर्णों का उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है, अथवा जहाँ विश्राम की आवश्यकता होती है, उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है। ऐसे स्थानों को यति, विश्राम या विराम कहते हैं। यहाँ इस संबंध में विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अंत में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आजकल हमारे यहाँ शैली-विवेचन के संबंध में विशेष कर इसी विषय पर विचार उपसंहार किया जाता है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के ठेठ, संस्कृत या विदेशी शब्दों का

कहाँ तक प्रयोग करते हैं। मानो शब्दों की व्युत्पत्ति ही सबसे महत्त्व की बात है। जब दो जातियों का समिलन होता है, तब उनमें परस्पर भावों, विचारों तथा शब्दों का विनिमय होता ही है। यही नहीं, बल्कि एक जाति की प्रकृति, रहन-सहन, सद्गुणों तथा दुर्गुणों तक का भी दूसरा जाति पर प्रभाव पड़ता है। वे इन बातों से लाख उद्योग करने पर भी बच नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा-पीछा करने की क्या आवश्यकता है? इस संबंध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है, वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को प्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वोकार करने में सदा खटक तथा अङ्गचन रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्दकुल में पूर्णतया संमिलित करके बिलकुल अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति, इसी में है कि हम उन्हें अपने रंग में रंगकर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें विदेशीपन की भलक भी न रह जाय। यह हमारे लिये कोई नया काम नहीं होगा। बहुत बर्षों से नहीं, अनेक शताब्दियों से हम इस प्रकार की विजय करते आए हैं और अब हमें इसमें हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात, जिस पर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, यह भ्रमात्मक विश्वास है कि शैली की कठिनता या सख्तत-शब्दों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। भाषा की कठिनता या सख्तत केवल शब्दों की तत्समता या तद्वत्ता पर निर्भर नहीं रहती। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में यह बात सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।

सातवाँ अध्याय

साहित्य की आलोचना

साहित्य केव्र में, ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि सभी की हो सकती है; यहाँ तक कि स्वयं आलोचनात्मक ग्रंथों की भी आलोचना हो सकती है। यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।

किसी ग्रंथ की आलोचना करने के समय हम उस ग्रंथ और उसके कर्ता का वास्तविक अभिप्राय समझना चाहते हैं; और तब उसके संबंध में अपनी कोई संमति स्थिर करना चाहते हैं। दूसरों ने किसी ग्रंथ या उसके कर्ता की जो आलोचना की हो, उससे भाँ हम लाभ उठा सकते हैं; पर वह लाभ उतना अधिक और वास्तविक नहीं हो सकता जितना स्वयं अध्ययन करने से होता है; क्योंकि उस दशा में हम उस आलोचक के विचारों से प्रभावान्वित हो जायेंगे और अपनी निज की कोई संमति स्थिर करने में असमर्थ होंगे। हाँ, अपनी आलोचना में हम दूसरे आलोचकों के अध्ययन और आलोचना से कुछ लाभ अवश्य उठा सकते हैं। यदि कोई अच्छा कवि जीवन की व्याख्या करता है, तो एक अच्छा आलोचक हमें वह व्याख्या समझाने में सहायक होता है। कोई अच्छा आलोचक साधारण पाठकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-संपन्न होता है; उसका अध्ययन भी अधिक गंभीर और पूर्ण होता है; और इसलिये वह किसी कवि या लेखक की कृति के भिन्न भिन्न अंगों पर प्रकाश डालकर हमें अनेक नई बातें बतलाता और

अनेक नए मार्ग दिखलाता है। वह हमारे मार्ग में एक अच्छे मित्र और पथ-दर्शक का काम देता है। वह हमें सिखलाता है कि अध्ययन किस प्रकार सचेत होकर और आँखें खोलकर करना चाहिए। चाहे उसकी संमति और निर्णय से हम सहमत हों और चाहे न हों, पर इसमें संदेह नहीं कि उसकी आलोचना से हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं और हमारा ज्ञान बहुत कुछ बढ़ सकता है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आलोचना से दो काम होते हैं। एक तो किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है, और दूसरे उसके संबंध में कोई मत स्थिर किया जाता है। बहुधा आलोचक इन दोनों कामों को एक साथ मिला देते हैं और व्याख्या के अंतर्गत ही मत भी स्थिर कर लेते हैं। पर अब कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह कहने लगे हैं कि आलोचक का काम केवल कृति की व्याख्या करना है और उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए; क्योंकि उस मत का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है जिससे आगे चलकर आलोचना के काम में बाधा पड़ती है। पर यह मत उतना ठीक नहीं जान पड़ता। प्रत्येक व्यक्ति किसी ग्रथ के विषय में, उसकी आलोचना करने के साथ ही साथ अपना मत भी प्रकट कर सकता है और उसके उस मत से लोग लाभ भी उठा सकते हैं।

यदि हम थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि आलोचक को अपना मत प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है; तो भी यह प्रश्न उठता है कि व्याख्याता के रूप में आलोचक का क्या मत है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो जान पड़ेगा कि व्याख्या का काम भी बहुत बड़ा और टेढ़ा है। किसी ग्रंथ की व्याख्या करने के लिये आलोचक को पूरा पूरा अध्ययन करना पड़ेगा; उसे ग्रंथ के ऊपरी गुणों और दोषों को छोड़कर भीतरी भावों तक पहुँचना पड़ेगा और यह देखना पड़ेगा कि उसमें कौन-सी वातें साधारण और क्षणिक हैं और कौन-सी वातें विशेषतायुक्त और स्थायी हैं; तथा उसे इस वात का पता लगाना पड़ेगा कि उसमें कला या नीति आदि के कौन कौन सिद्धांत आदि हैं। उस

ग्रंथ में जो गुण छिपे हुए होंगे, उनका वह प्रकाशित करेगा और उसमें इधर-उधर बिखरे हुए तत्त्वों को एकत्र करके उन पर विचार करेगा। इस प्रकार वह हमें बतलावेगा कि विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रंथ कैसा है। इस दशा में उस ग्रंथ के गुण या दोष लोगों के सामने आप से आप आ जायेंगे। परंतु आलोचना का यह काम वह अपनी निज की रीति से करेगा। वह केवल आलोच्य ग्रंथ को भी देखकर उसकी आलोचना कर सकता है और उसी विषय के दूसरे ग्रंथों के साथ उसकी तुलना भी कर सकता है। वह आवश्यकता पढ़ने पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस पर विचार कर सकता है, नैतिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है; सामाजिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है और साहित्यिक दृष्टि से भी विचार कर सकता है। परंतु एक बात निश्चित है। वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे जिस प्रकार विचार करे, उसका एक मात्र उद्देश्य यही होगा कि वह स्वयं उस ग्रंथ तथा उसके कर्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे। हाँ, यह संभव है कि वह स्वयं अपनी रुचि के अनुसार उसके संबंध में किसी प्रकार का निर्णय न करे।

परंतु पाठकों के मन में यह प्रश्न उठना बहुत ही स्वाभाविक और अनिवार्य है कि अमुक ग्रंथ में जीवन की जो व्याख्या की गई है और आलोचना का उद्देश जो दूसरी बातें बतलाई गई हैं, वे ठीक हैं या नहीं; आलोचना का उद्देश कला की दृष्टि से वह ग्रंथ अच्छा है या नहीं; इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में आप से आप उठते हैं और हम उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उस ग्रंथ को पढ़ने से पहले कम से कम सचेत होने के लिये हमें ऐसे प्रश्नों के उत्तर जानना आवश्यक होता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम जो कुछ कह रहे हैं, वह कोरे वैज्ञानिक ग्रंथों के संबंध में नहीं कह रहे हैं, बल्कि साधारण साहित्य के संबंध में कह रहे हैं; क्योंकि नीति और कला आदि की दृष्टि से शुद्ध साहित्य पर ही विचार किया जाता है; भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र या दूसरे अनेक शास्त्रों और

वैज्ञानिक ग्रंथों का इस दृष्टि से विचार नहीं होता। भूगर्भ शास्त्र तो हमें केवल यही बतलाकर रह जाता है कि पृथ्वी का यह रूप किस प्रकार और कितने दिनों में हुआ, अथवा इसमें कितने समय में क्या परिवर्तन होता है। पर साहित्य का संबंध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक वार्ताओं से होता है और इसी कारण उसके गुणों और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। भूगर्भ शास्त्र के ग्रंथ में भी गुण और दोष हो सकते हैं, पर उन गुणों और दोषों का पता लगाना केवल भूगर्भ शास्त्र के पूर्ण पंडितों का ही काम है; साधारण पाठकों की शक्ति के यह बाहर है। साधारण साहित्य के संबंध में जहाँ गुणों और दोषों का विवेचन होगा, वहाँ विवेचक या आलोचक का मत और निर्णय भी आप से आप आ जायगा।

“भिन्नरुचिर्हि लोकः” वाले सिद्धांत के अनुसार सभी लोग अलग अलग अपने मत के अनुसार किसी ग्रंथ को अच्छा या बुरा बतलाते हैं। हमें जो कहानी अच्छी लगती है, संभव है कि वही आपके विलक्षण पसंद न आवे। हमारी समझ में जो नाटक किसी काम का नहीं है, उसी की और लोग लंबी-चौड़ी प्रशंसा कर सकते हैं। जो सनुष्य कुछ भी समझ रखता है, वह किसी ग्रंथ के पढ़ने के समय उसके संबंध में अपनी कोई न कोई, अच्छी या बुरी, संमति भी अवश्य ही स्थिर कर लेता है। जब हमारा कोई भित्र हमें कोई नई पुस्तक लाकर पढ़ने के लिये देता है, तब सबसे पहले हम उससे यही प्रश्न करते हैं कि यह पुस्तक कैसी है; और तब उसके उपरांत हम स्वयं उस पुस्तक को पढ़कर उसके संबंध में अपना भी कोई मत स्थिर करते हैं। एक बार किसी पुस्तक को पढ़कर जो मत निश्चित किया जाता है, दो-तीन बार विशेष ध्यानपूर्वक उसी पुस्तक को पढ़ने पर उस मत में परिवर्तन भी हो सकता है। बल्कि ज्यों ज्यों हम किसी पुस्तक का अधिकाधिक अध्ययन करते हैं, त्यों त्यों मत स्थिर करने में हमारी असमर्थता और कठिनता बढ़ती जाती है; और इसी कठिनता को दूर करने के लिये अच्छे आलोचकों की आवश्यकता होती है। यदि हम केवल अच्छी

पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और निकम्मी या रद्दी पुस्तकों से बचना चाहें, तो अच्छे आलोचकों की संमतियाँ हमारे बहुत काम की हो सकती हैं।

काव्य का विवेचन करते हुए हम यह बात बतला चुके हैं कि किसी कवि की कृति को अच्छी तरह समझने के लिये यदि उस कवि के प्रति श्रद्धा नहीं तो कम से कम सहानुभूति तो अवश्य होनी चाहिए। श्रद्धा या सहानुभूति का अभाव हमें उस कवि या लेखक की आत्मा तक पहुँचने ही नहीं देता। यही कारण है कि श्रद्धा या सहानुभूति के अभाव में तथा मन में राग-द्वेष का भाव रखकर जो आलोचना की जाती है, उसका विद्वानों में कोई आदर नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ऐसी आलोचना कोई आलोचना ही नहीं होती। यहाँ हम संक्षेप में यह बतलाना चाहते हैं कि इस श्रद्धा और सहानुभूति के अतिरिक्त समालोचक में और किन किन गुणों की आवश्यकता होती है।

सबसे पहले समालोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणवाही और निष्पक्ष होना चाहिए; और जिसमें ये सब गुण न हों, उसको समालोचक के आवश्यक न होगा। लोचना के काम से दूर ही रहना चाहिए। जिस समालोचक में ये सब गुण होंगे, वह बहुत सहज में आलोच्य ग्रंथ की बातों का मर्म समझ जायगा। आलोचक का मुख्य कार्य यह है कि वह आलोच्य ग्रंथ को उसके विलम्बुल वास्तविक स्वरूप में देवे। किसी बुरे भाव अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहेगा, उसकी गणना निंदा अथवा स्तुति में ही होगी; उसके उस कथन को आलोचना में स्थान न मिलेगा। समालोचक यदि विद्वान् न होगा, तो वह ग्रंथ के गुण न समझ सकेगा; यदि वह बुद्धिमान् न होगा तो नीर-क्षीर के विवेक में असमर्थ होगा; और यदि वह निष्पक्ष न होगा, तो उसका विवेचन निरर्थक और अप्राप्य होगा। समालोचक के लिये आवश्यक विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और गुण-आहकता तो बहुत से लोगों में हो सकती और होती है पर राग-द्वेष या पक्षपात से बहुत ही कम लोग बचते या बच सकते हैं। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् और साहित्यज्ञ जानसन के विषय

मैं कहा जाता है कि जिन लेखकों के विचारों और सिद्धांतों से उसकी सहानुभूति होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना तो वे बहुत ठीक ढंग से करते थे; पर जिनके विचारों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती थी, उनके ग्रंथों की आलोचना के समय उनकी साहित्यिक जानकारी न जाने कहाँ चली जाती थी और वे बहुत बुरी तरह से उनकी खबर लिया करते थे। पोप और एडिसन के साहित्यिक आदर्शों का जानसन बहुत आदर करते थे, इसलिए उनके जीवन-चरितों में उन्होंने उनकी कृतियों की बहुत ही योग्यतापूर्वक आलोचना की है। पर राजनीतिक विरोध के कारण मिल्टन की और व्यक्तिगत द्वेष के कारण ये की कृतियों में उन्हें कुछ भी गुण दिखाई न दिये। हमारे यहाँ हिंदी में भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो कुछ विद्या और बुद्धि रखते हुए भी या तो पक्षपातवश ग्रंथों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर चलते हैं और या द्वेषवश उनकी धूल उड़ाने लगते हैं। बात यह है कि अनुचित पक्षपात और द्वेष दोनों ही मनुष्य की आँखों के आगे एक ऐसा परदा डाल देते हैं जिसके कारण या तो उन्हें दोषों और गुणों का ठीक ठीक पता ही नहीं चलता; और या वे जान-बूझकर उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते। हम इस विषय में और अधिक कुछ न लिखकर केवल यही कहना यथेष्ट समझते हैं कि इस पक्षपात या द्वेष के कारण कभी कभी छाटे-मोटे अनर्थ और अन्याय भी हो जाते हैं। किसी ग्रंथ की पक्षपातपूर्ण समालोचना देखकर बहुत से लोग उन पुस्तकों के पढ़ने में व्यर्थ अपना समय और धन गँवा सकते हैं; और द्वेषपूर्ण समालोचना के कारण वे किसी अच्छे ग्रंथ से लाभ उठाने से बंचित रह सकते हैं। अतः समालोचक के लिये पंडित और समझदार होने के अतिरिक्त निष्पक्ष होने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता हीती है। ऐसे समालोचक की समालोचना से ही साहित्य की भी उन्नति होती है और पाठकों का भी लाभ होता है।

समालोचक होने के लिये ऊपर बतलाए हुए कतिपय प्राकृतिक गुणों की तो आवश्यकता होती ही है, पर साथ ही समालोचना के

लिये एक विशेष प्रकार की बुद्धि या सामर्थ्य की भी आवश्यकता होती है। कभी कभी देखने में आता है कि अच्छे अच्छे पंडित और विद्वान् उतनी अच्छी समालोचना नहीं कर सकते जितनी अच्छी और सटीक समालोचना उनसे कम विद्या और योग्यता के लोग करते हैं। एक साधारण बुद्धिमान् पाठक भी कभी कभी किसी ग्रंथ के संबंध में बहुत ही अच्छे ढंग से और बहुत ही उपयुक्त संमति प्रकट कर सकता है, और उसकी उस संमति तथा आलोचना का ढंग देखकर अच्छे अच्छे पंडित चकित हो सकते हैं। इसका कारण कदाचित् यही होता है कि उसकी संमति विचारपूर्ण होने के अतिरिक्त राग-द्वेष और पक्षपात आदि से बिलकुल शून्य होती है। यह ठीक है कि जिस व्यक्ति का काम ही प्रायः अध्ययन और समालोचना करना है, वह समालोचना के नियमों और रीतियों आदि से विशेष परिचित होगा और उसका ज्ञान-भांडार भी साधारण पाठकों के ज्ञान-भांडार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होगा। पर उसकी आलोचना तभी काम की होगी जब उसमें आलोचना करने की शक्ति पूर्ण रूप से होगी और उसकी आलोचना राग-द्वेष या पक्षपात आदि से मुक्त होगी। करने के तो आलोचना सभी लोग कर लेते हैं; पर अलोचना भी एक प्रकार की कला है और उसके लिये एक विशेष प्रकार की योग्यता तथा शिक्षा की आवश्यकता होती है। साथ ही उसे अपने मन तथा विचारों पर भी अधिकार होना चाहिए। यदि उसमें इन बातों का अभाव होगा, तो वह न तो ठीक ठीक और न उदारतापूर्वक विचार कर सकेगा। उस दशा में उसकी आलोचना या संमति का भी कोई आदर न होगा।

यह तो स्वतः सिद्ध बात है कि आलोचना उन्हीं ग्रंथों की होती है जो प्रस्तुत और प्रकाशित हो चुकते हैं। जो ग्रंथ बने ही न हों, भला आलोचना और साहित्यवृद्धि उनकी क्या आलोचना होगी। इसलिये कुछ विद्वानों का मत है कि आलोचना से केवल पुराने ग्रंथों के गुण-देष्ट ही प्रकट होते हैं, नवीन साहित्य

उत्पन्न करने में उससे कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। कुछ लोगों का तो यहाँ तक मत है कि आलोचना से नए साहित्य की सृष्टि में बाधा पड़ती है। पर यह मत ठीक नहीं है। यदि हम थोड़ी देर के लिये आलोचना को साहित्य की सृष्टि में बाधक भी मान लें, तो भी हम इस संसार-व्यापी नियम के द्वा नहीं सकते कि बाधक तत्त्व भी प्रकारांतर से साधक ही सिद्ध होते हैं। संसार में सभी जगह हम देखते हैं कि सदा स्वतंत्रता और शासन, व्यक्तित्व और नियम, पुराने और नए तथा लकीर पीटने और नई बात निकालने में एक प्रकार का विरोध चलता रहता है। पर फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि शासन कभी स्वतंत्रता में बाधक होता है; अथवा लकीर पीटनेवालों के कारण कोई नई बात नहीं उत्पन्न होने पाती। दोनों पक्षों का झगड़ा सदा कुछ चलता ही रहता है; और जिस समय यह झगड़ा बहुत बढ़ जाता है, उसी समय से नए सिरे से विकास और उन्नति होने लगती है। जिस समय स्वतंत्रता की मात्रा बढ़ते बढ़ते उच्छ्वस चलता का रूप धारण करने लगती है, उस समय कुछ कठोर शासन की आवश्यकता आ खड़ी होती है; और जिस समय शासन की कठोरता, भयंकरता और उदंडता बढ़ जाती है, उस समय नए सिरे से स्वतंत्रता की स्थापना होती है। साहित्य-क्षेत्र में यही दशा नए ग्रंथों की रचना और आलोचना की है। जिस समय लेखक मनमाने ढंग से कलम चलाने लगते हैं और जी मैं जो कुछ ऊटपटाँग आता है, सब लिख चलते हैं, उस समय आलोचक के अंकुश की आवश्यकता होती है। आलोचना का अंकुश लोगों को मनमाने रास्ते पर चलने से रोकता और उन्हें ठीक मार्ग पर चलने के लिये बाध्य करता है। कुछ दिनों तक लोग आलोचकों के बतलाए हुए मार्ग पर चलते हैं; पर आगे चलकर उस मार्ग से उकता जाते हैं और आलोचक के शासन से निकलकर नए नए मार्ग ढूँढ़ने लगते हैं। जब वे कोई नया मार्ग ढूँढ़ लेते हैं, तब आलोचक उस मार्ग के कंटक आदि दूर करके उसे परिष्कृत करने लगते हैं और लोगों को गड़दे में गिरने से बचाने का उद्योग करते हैं। बस

यही क्रम, संसार के अन्यान्य क्षेत्रों के क्रम के अनुसार, चलता रहता है। ऐसी दशा में यह कहना कदापि उग्रुक्त नहीं हो सकता कि आलोचना साहित्य की सृष्टि में बाधक होती है। यदि वह एक प्रकार से बाधक भी होती हो, तो भी प्रकारांतर से वह उस काम में अवश्य सहायक भी होती है। हाँ, यह अवश्य है कि आलोचना सदा साहित्य के पीछे पीछे चलेगी और उसका नियत्रण तथा शासन करती रहेगी। संसार में जब कोई नया आंदोलन अथवा नई बात उत्पन्न होती है, तब उसके संबंध में बहुत कुछ विरोध, टीका-टिप्पणी और आलोचना आदि होती है। पर धीरे धीरे विरोधी अथवा आलोचक अपने आपको नए विचारों और आदर्शों के अनुकूल बना लेते हैं और उन्हीं नए विचारों और सिद्धांतों के आधार पर नई नई बातें निकालकर नए ढंग से लोगों को उनका अर्थ बतलाने लगते हैं। अतः आलोचना से डरने या घबराने की कोई बात नहीं है। उसे सदा पथ-दर्शक और सहायक समझना चाहिए।

प्रत्येक आलोचक को किसी ग्रंथ या लेख आदि के संबंध में अपना मत प्रकट करने का पूरा पूरा अधिकार है। साथ ही उसे इस बात की

आलोचना और भी स्वतंत्रता है कि वह और लोगों को भी अपने उपयोगिता मत से सहमत कराने का उद्योग करे। एक विद्वान् का मत है कि जब किसी ग्रंथ के संबंध में बराबर के दो विद्वानों के परस्पर विरोधी मत होते हैं, उस समय एक की आलोचना और समति का दूसरे की आलोचना और समति से आप से आप खंडन हो जाता है और आलोचना का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं होने पाता; क्योंकि हमें उस ग्रंथ की उपयोगिता या अनुपयोगिता का कुछ भी पता नहीं लगने पाता। इसका कारण प्रायः यही होता है कि ऐसे समालोचक बहुधा न्यायाधीश की भाँति नहीं, बल्कि वकील या प्रतिनिधि की भाँति अपना काम करते हैं और अपने पक्ष का आवश्यकता से अधिक समर्थन कर चलते हैं। यदि यह बात न भी हो, तो भी हमें यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि आलोचना में जो मत प्रकट

किया जाता है, वह प्रायः आलोचक का व्यक्तिगत और निजी मत होता है। यदि आपको संमति में कोई पुस्तक आदर्श और हमारी समझ में बहुत ही साधारण हो तो यही माना जायगा कि उस संबंध में आपकी और हमारी संमति बिलकुल व्यक्तिगत है। अब यदि कोई तीसरा व्यक्ति बीच में आ पड़े और हममें से किसी के अनुकूल या प्रतिकूल अपना मत प्रकट करे, तो उस समय मानों उस ग्रंथ के संबंध में एक और तोसरी व्यक्तिगत संमति सामने आ खड़ी होगी। तात्पर्य यह है कि सभी लोग अपनी अपनी योग्यता, विचार, रुचि और प्रवृत्ति आदि के अनुसार एक ही ग्रंथ के संबंध में अपना अलग अलग विचार प्रकट करेंगे; और उस दशा में इस बात का निर्णय करना बहुत ही कठिन हो जायगा कि असुक ग्रंथ की वास्तविक महत्त्व या उपयोगिता कितनी है अथवा, वह कहाँ तक अच्छा या बुरा है।

लार्ड जेफ्रे ने स्काट के संबंध में जो निबंध लिखे हैं, उनमें से एक निबंध में उन्होंने कहा है—“काव्य का मुख्य उद्देश मन को आनंद देना है। अतः जिस काव्य से जितने ही अधिक मनुष्यों को आनंद मिले, वह उतना ही श्रेष्ठ है।” पर यह मत सर्वथा ठीक नहीं है। तुलसीदास-कृत रामायण तो लाखों-करोड़ों आदमी पढ़ते हैं; और उन्हीं तुलसीदास की विनयपत्रिका से आनंद उठानेवालों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। यदि लार्ड जेफ्रे का उक्त मत ठीक मान लिया जाय तो फिर रामायण के आगे विनयपत्रिका का बहुत ही कम मूल्य या महत्त्व रह जाता है। पर जो लोग काव्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं, वे कह सकते हैं कि तुलसीदास के समस्त ग्रंथों में, काव्य की दृष्टि से, विनय-पत्रिका ही सर्व-श्रेष्ठ है। चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति के आधे दर्जन से ऊपर संस्करण निकल चुके हैं। पर ठाकुर जगमोहनसिंहकृत श्यामास्वप्न को, जो उससे बहुत पहले का छपा हुआ है, आज तक नए संस्करण का सौभाग्य भी नहीं प्राप्त हुआ। तो क्या इससे हम यह मान लें कि चंद्रकांता उपन्यास बहुत अच्छा है और उसके सामने श्यामास्वप्न कोई चीज ही नहीं है? यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि एकमात्र सर्वप्रियता

या प्रचार ही किसी ग्रंथ की श्रेष्ठता का कोई प्रमाण नहीं है। जो वस्तु लाखों अशिक्षितों को बहुत अच्छी जान पड़े, पर सौ दो सौ शिक्षितों की दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य न हो, अथवा अपेक्षाकृत बहुत ही कम मूल्य हो, क्या उसी को आप श्रेष्ठ मानने के लिये तैयार होंगे? हमारी समझ में कदापि नहीं। अतः यह सिद्धांत निकलता है कि किसी ग्रंथ की श्रेष्ठता, महत्त्व या उपयोगिता आदि का ठीक ठीक पता लगाने के लिये हमें इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके संबंध में शिक्षितों और परिष्कृत रुचिवाले समझदारों का क्या समति है। यदि हम बैंबल सर्वप्रियता और प्रचार पर जायेंगे, तो बहुत संभव है कि साहित्य के अमूल्य रत्न हमारे हाथ ही न लगें और भूठे पत्थर या शीशे के ढुकड़े ही हमारे पल्ले पड़ें। हमारे इस कथन का मुख्य तात्पर्य केवल यही है कि लोग अनेक प्रकार की आलोचनाओं के रहते हुए भी इस बात का निर्णय कर सकें कि कौन-सा ग्रंथ कहाँ तक श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है।

ऊपर हमने जो विवेचन किया है, उसका मुख्य तात्पर्य यही है कि आलोचनाओं में जो मत प्रकट किए जाते हैं, वे व्यक्तिगत रुचि के आधार

मत-परिवर्तन

पर होते हैं। इस व्यक्तिगत रुचि का एक और अंग है, जिसका विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। हम आज कोई ग्रंथ पढ़ते हैं और उसके संबंध में, अपनी रुचि के अनुसार, कोई मत स्थिर करते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या हमारा वही सत अंतिम और निश्चित होता है; और क्या केवल उसी मत से सदा के लिये हमारा पूरा पूरा समाधान और संतोष हो जाता है? हम किसी पुस्तक को पढ़कर कह बैठते हैं कि यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी और शिक्षाप्रद है। पर क्या इतने से ही हमारा काम चल जाता है? कदाचित् नहीं चलता। यदि हम किसी ग्रंथ का अवलोकन करके प्रसन्न हो जायें, तो केवल हमारी वह प्रसन्नता ही उस पुस्तक के उत्तम होने के संबंध में प्रमाण का काम नहीं दे सकती। उस पुस्तक को श्रेष्ठता का प्रमाणपत्र देने से पहले हमें इस बात की जाँच कर लेनी

चाहिए कि उस पुस्तक से हमारा प्रसन्न होना न्याय-संगत था या नहीं। हमारी प्रसन्नता का वास्तविक कारण तो हमारी रुचि थी; और हमारी रुचि से भिन्न भिन्न रुचि रखने वालों को उस पुस्तक से कुछ भी आनंद नहीं मिल सकता। बहुधा लोग पुस्तकों की उत्तमता की कसौटी अपना मत ही समझते हैं और रुचि-वैचिच्छय का कोई ध्यान नहीं रखते। पर यदि एक बार उनके ध्यान में रुचि-वैचिच्छय का यह तत्त्व आ जाय, तो फिर उनके लिये उचित रूप से विचार करने का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। उस दशा में विचास-संबंधी उनकी संकीर्णता और दुराग्रह बहुत कुछ कम हो जायगा। जब हम किसी पुस्तक के संबंध में यह न कहकर कि यह पुस्तक ऐसी है, यह कहेंगे कि यह पुस्तक हमारी संमति में ऐसी है तब मानों हम उस पुस्तक के संबंध में कोई विचार नहीं प्रकट करेंगे, बल्कि अपनी रुचि के संबंध में विचार प्रकट करेंगे। पर हाँ, इसके लिये कुछ उदारता और साहस की आवश्यकता होगी। अच्छे ग्रंथ के गुण समझना कोई सहज काम नहीं है; और यही कारण है कि उसके अध्ययन से बहुत ही कम लोग प्रसन्न होते हैं, और जो लोग थोड़ा-बहुत प्रसन्न होते भी हैं, वे बहुधा उसके छोटे-मोटे गुणों का ही देखकर प्रसन्न होते हैं। इनमें भी बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जो यह मानने के लिये जल्दी तैयार ही नहीं होते कि हममें इस ग्रंथ का समझने की योग्यता नहीं है, अथवा उसके विषय से हमारा परिचय नहीं है। परंतु उचित यही है कि हम किसी ग्रंथ के छोटे-मोटे गुणों से ही संतुष्ट होकर न रह जायें और उसमें भली भाँति अवगाहन करके उसके उत्कृष्ट गुणों से परिचित होने का उद्योग करें। केवल इसी दशा में हम उस ग्रंथ के विषय में ठीक तरह से विचार कर सकेंगे और उसके संबंध में अपना ऐसा मत स्थिर कर सकेंगे जिसका सब लोग आदर करें। यहाँ हम साधारण पाठकों के लिये किसी ग्रंथ की उत्तमता की एक और परीक्षा बतला देना चाहते हैं, जिसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। किसी पुस्तक के संबंध में अपना विचार या मत स्थिर करने के लिये हमें वह पुस्तक कई बार पढ़नी चाहिए। यदि प्रत्येक बार पढ़ने

में कुछ और अधिक आनंद आवे, यदि प्रत्येक बार के पारायण में हमें उसके कुछ विशेष गुणों और उत्तमताओं का परिचय मिले, तो हमें समझ लेना चाहिए कि वह ग्रंथ बहुत अच्छा और ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य है। इसके विपरीत यदि उसे दूसरी या तीसरी बार पढ़ने में कम अथवा कुछ भी आनंद न आवे, तो हमें समझ लेना चाहिए कि कम से कम हमारे लिये उस पुस्तक में कोई सार की बात नहीं है। पर यदि हम केवल अपनी ही रुचि को सर्वोपरि मान लें, तो फिर हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि हम किसी ग्रंथ की आलोचना करने के अधिकारी नहीं हैं। सबसे पहले हमें यह जानना चाहिए कि पुस्तकों से किस प्रकार आनंद प्राप्त किया जाता है; और जब हमें यह बात मालूम हो जायगी; तब हम कभी अपने मत के संबंध में कोई आग्रह न करेंगे; क्योंकि उस दशा में हम स्वयं अपनी ही त्रुटियों से भली भाँति परिचित रहेंगे। इससे दूसरा लाभ यह होगा कि हम अपनी वे त्रुटियाँ भी दूर कर सकेंगे। पर ये सब बातें उन्हीं लोगों के काम की हैं जो अच्छी तरह और ध्यानपूर्वक साहित्य का अध्ययन करना चाहते हों। इस प्रकार के अध्ययन में वे लोग जितना परिश्रम करेंगे, उनको उतना ही लाभ होगा। पर जो लोग यह समझते हों कि हमें तो सब कुछ पहले से ही आता है और इस पुस्तक की क्या सामर्थ्य है जो हमें कोई नई बात बतला सके, उन्हें अपने सुधार और उन्नति की आशा छोड़ देनी चाहिए।

मान लीजिए कि हमने कोई पुस्तक पढ़ी और उसके संबंध में अपना कोई मत भी स्थिर किया। अब हम जानना चाहते हैं कि जो मत हमने स्थिर किया है, वह कहाँ तक ठीक है। इस काम के लिये हम उस पुस्तक की कुछ प्रतियाँ लेकर अपने कुछ ऐसे भित्रों में बाँट देते हैं जिनकी रुचि या योग्यता एक दूसरे से बहुत भिन्न है; और उन लोगों से उस पुस्तक के संबंध में संमति माँगते हैं। जब उन सब की संमतियाँ आ जायेंगी, तब हम देखेंगे कि उन सबमें आपस में बहुत बड़ा अंतर और मतभेद है। यद्यपि वे सब मित्र भिन्न दृष्टियों से उस पुस्तक पर विचार करेंगे, तो भी इसमें संदेह नहीं कि उस पुस्तक के महत्त्व या गुणों

आदि के संबंध में उनमें से अधिकांश की संमति अनेक अंशों में एक दूसरे की संमति से मिलती जुलती होगी। यदि वह पुस्तक अच्छी होगी, तो हमारे अधिकांश मित्र भी उसकी प्रशंसा ही करेंगे। पर यदि वह पुस्तक साधारण केटि की हुई, तो वे लोग भी उसे साधारण ही बतलायेंगे। उस समय हम कह सकेंगे कि हमारे मित्रों ने किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया है और उनकी संमतियों का साधारण व्यक्तिगत संमतियों की अपेक्षा अधिक आदर होना चाहिए; क्योंकि वह संमति अधिक मत से स्थिर हुई है। अब जिस पुस्तक की हमारे दस-पाँच मित्रों ने प्रशंसा की है, उसी को यदि कोई मित्र कुछ निदा भी करे तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी संमति पर भी कुछ विचार करें और यह जानने का उद्योग करें कि उसने ऐसी संमति क्यों और किन आधारों पर दी है। और यदि भली भाँति विचार करने के उपरांत भी हमें उसके मत की पुष्टि करनेवालों कोई बात न मिले अथवा बहुत ही कम बातें मिलें, तो हमें समझ लेना चाहिए कि या तो उसने किसी प्रकार के द्वेष के कारण और या किसी प्रकार के अज्ञान के कारण वह संमति दी है। आप पूछ सकते हैं कि हमारे इस उदाहरण से क्या सिद्धांत निकला। इससे यह सिद्धांत निकला कि किसी ग्रंथ का महत्व या उपर्योगता आदि किस प्रकार प्रमाणित होती है। इसका तात्पर्य यही है कि किसी ग्रंथ को उपर्योगता अथवा अनुपर्योगिता आदि के संबंध में बहुत से शिक्षितों और समझदारों की जो संमति हो, वही मान्य होनी चाहिए। और यदि थोड़े से लोग उसके विपरीत अपनी संमति प्रकट करें, तो पहले हमें उनकी संमति पर विचार करना चाहिए, और यदि उनकी संमति में हमें कोई तत्त्व की बात न मिले तो हमें वह संमति अप्राप्य समझकर छोड़ देनी चाहिए; क्योंकि जो ग्रंथ अनेक आलोचकों की परीक्षा में ठोक उतरा हो और जिसके संबंध में बहुत कुछ वाद-विवाद के उपरांत भी लोगों की संमति अनुकूल हो, उसे उत्तम ग्रंथ मानने में हमें कोई आनाकानी न होनी चाहिए। सारांश यह है कि बहुत कुछ विकट परीक्षाओं के उपरांत

भी जो ग्रंथ अच्छा ही ठहरे, वह तो अच्छा है ही, और जो उन विकट परीक्षाओं में अच्छा न ठहरे, वह साधारण या निकम्मा है।

एक बहुत प्रसिद्ध सिद्धांत है कि जो वस्तु सबसे अच्छी या उपयुक्त होती है, वही संसार में बच रहती है; और जो अनावश्यक या अनुपयुक्त होती है, वह नष्ट हो जाती है। साहित्य-केन्द्र स्थायी साहित्य के गुण में भी इस सिद्धांत की सत्यता भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। आज यदि कोई अच्छा ग्रंथ प्रकाशित होता है, तो सर्वसाधारण में उसका बहुत आदर होता है, और जब तक लोगों का उससे मनोरंजन होता रहता है, तब तक वह पुस्तक बराबर चलती रहती है, उसका अस्तित्व बराबर बना रहता है। पर जब उस पुस्तक से लोगों का मनोरंजन बंद हो जाता है, तब उसकी उपयोगिता जाती रहती है और उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। जिस समय उसका स्थान घटण करने के लिये उससे अच्छी कोई पुस्तक साहित्य-केन्द्र में आ जाती है, उस समय लोग उसका पढ़ना सर्वथा बंद कर देते हैं। यही नहीं बल्कि कुछ दिनों के उपरांत लोगों को इस बात का आश्चर्य होने लगता है कि किसी समय उस पुस्तक का जो आदर हुआ था, वह क्यों हुआ था। पर जो पुस्तकें केवल सामयिक नहीं होतीं, जिनमें बहुत दिनों तक का काम आनेवाली बातें अथवा और कोई स्थायी गुण होते हैं, वे सैकड़ों और कभी कभी हजारों वर्षों तक बनी रहती हैं और लोगों के विचारों, सम्यता और सूचि आदि के बहुत कुछ बदल जाने पर भी उनका अध्ययन निरंतर होता चलता है। इसका कारण यही है कि हमारे नैतिक और मानसिक जीवन में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाने पर भी उनमें प्रकट किये हुए विचार आदि हमारे लिये अनुकूल, लाभदायक और ग्राह्य बने रहते हैं। जिस समय वे पुस्तकें रची जाती हैं, उस समय दृष्टि से तो वे उपयोगी होती ही हैं, उसके पीछे भी बहुत दिनों तक उनकी उपयोगिता बनी रहती है। बहुत समय बीत जाने पर भी उनमें लोगों को उत्साहित और प्रसन्न करनेवाले तत्त्व वर्तमान रहते हैं। जब इस प्रकार किसी पुस्तक का बहुत दिनों तक

अस्तित्व बना रहता है और सैकड़ों-हजारों वर्ष बीत जाने पर भी लोग बड़े चाव से उसे पढ़ते हैं, तब मानों वह पुस्तक व्यक्तिगत समतियों और आज्ञापों आदि के क्षेत्र से बाहर निकल जाती है और उसकी उपयोगिता तथा उत्तमता सर्वमान्य हो जाती है। फिर उसके संबंध में किसी प्रकार का मतभेद या विवाद नहीं रह जाता। इसी कोटि के ग्रंथ साहित्य-क्षेत्र में रत्न कहलाने के अधिकारी होते हैं और सभी देशों तथा सभी कालों में उनका समान आदर होता है।

साहित्य की महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण उसका स्थायी होना है। पर यह प्रमाण हमें उन्हीं ग्रंथों के संबंध में मिल सकता है, जो आज से दो-चार सौ या हजार-दो हजार वर्ष पहले के बने हों। अब जो ग्रंथ बहुत थोड़े दिनों के बने हों, उनकी उपयोगिता की परीक्षा किस प्रकार हो सकती है? ऐसे किसी ग्रंथ को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि तुलसीकृत रामायण की भाँति तीन सौ वर्ष से अधिक बीत जाने पर उस ग्रंथ की क्या दशा होगी। फिर भी हम अपने ज्ञान और अनुभव की सहायता से किसी ग्रंथ के विषय में यह कह सकते हैं कि वह स्थायी होगा या नहीं। पर हमारा वह कथन बिलकुल ठीक और निश्चित नहीं हो सकता; क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि आगे चलकर पाठकों की रुचि में कहाँ तक परिवर्तन हो जायगा और शीघ्र ही इससे भी अच्छे और स्थायी ग्रंथों की रचना हो जायगी या नहीं। अतः आधुनिक साहित्य की उपयोगिता जानने के लिये हमें आलोचकों की समतियों का ही सहारा लेना पड़ेगा। एक विद्वान् का मत है कि यदि तुम अच्छी और पढ़ने योग्य पुस्तक देखना चाहो, तो बाजार में जाकर कोई पुस्तक देखो; और बारह वर्ष के उपरांत फिर बाजार में जाओ। उस समय यदि वही पुस्तक फिर तुम्हें विकती हुई दिखाई दे, तो जान लो कि वह पुस्तक अच्छी और पढ़ने योग्य है। इससे भी यही सिद्धांत निकलता है कि जो पुस्तक जितने ही अधिक समय तक बनी रहे, वह उतनी ही अच्छी है। पर इन सिद्धांतों से साधारण पाठकों का काम नहीं चल सकता। आप सब लोगों से यह आशा नहीं कर सकते कि वे किसी

पुस्तक के प्रकाशित होने के उपरांत बारह वर्षों तक उसकी उपयोगिता के प्रभाण की प्रतीक्षा करें और तब उसके उपरांत वे उसे लेकर पढ़ें। आजकल तो पुस्तकों के तैयार होते ही लोग उनको पढ़कर उनके विषय की सब बातें जानना चाहते हैं। ऐसे लोग यदि यह जानना चाहें कि कौन सी पुस्तक पढ़ने योग्य अथवा अच्छी है और कौन सी न पढ़ने योग्य और निकम्मी है, तो उनको यही देखना चाहिए कि किसी पुस्तक के संबंध में अधिकांश विद्वानों और आलोचकों की समति क्या है।

साहित्य जब अपने स्वरूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तब समालोचना का जन्म होता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं,

आलोचना के प्रकार आलोचना करना मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किसी न किसी रूप में वह सब में पाई जाती है। साहित्य भी मानव-मस्तिष्क से उत्पन्न होता है। वह उसके भावों, विचारों तथा अनुभूतियों का भांडार है। अतः समालोचना का भी साहित्य के अंतर्गत स्वाभाविक स्थान होना चाहिए और वस्तुतः ही भी यही बात। उसको सब काल और सब देशों के साहित्य में महत्व-पूर्ण स्थान मिला है। वह साहित्य का एक आवश्यक अंग है। जिस साहित्य में समालोचना का अंग न हो अथवा जिसका यह अंग भली भाँति विकसित न हो उसे अधूरा समझना चाहिए।

आधुनिक समालोचना चार प्रकार की मानी जाती है।

(१) सैद्धांतिक (Speculative) समालोचना जिसमें साहित्यिक के विभिन्न रूपों के विवेचन के द्वारा साहित्यिक सिद्धांतों की स्थापना होती है।

(२) व्याख्यात्मक (Inductive) समालोचना जिसमें साहित्यिक रचनाओं का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है। इससे रचनात्मक साहित्य की विभिन्न कृतियों के वर्गीकरण और विकास में सहायता पहुँचती है।

(३) निर्णयात्मक (Judicial) समालोचना जिसमें सामान्य सिद्धांतों के आधार पर साहित्यिक रचनाओं के महत्व का निर्णय किया जाता है।

(४) स्वतंत्र अथवा आत्मप्रधान (Free or Subjective) आलोचना जिसमें आलोचक आलोच्य विषय की विवेचना करता हुआ उसमें इतना तल्लीन या उसके इतना विमुख हो जाता है कि विवेचन के छोड़कर भाव-लहरी में वह चलता है। आलोच्य रचना या विषय उसके भावों का आलंबन बन जाती है। ऐसी आलोचनाएँ रचनात्मक साहित्य की कृतियाँ हो जाती हैं।

यद्यपि समालोचना में इन चारों अथवा एक से अधिक का मिश्रण पाया जाता है फिर भी तिल-तंडुलवत् इनका स्वरूप-भेद स्पष्ट है। आधुनिक समालोचना की यह विशेषता है कि वह विस्तृत अथवा सावेदेशिक और सर्वकालीन साहित्य को अपना आधार बनाती है। यह बातं प्राचीन अथवा परंपराभुक्त समालोचना में नहीं मिलती है। फलतः साहित्य के विस्तार के साथ ही साथ साहित्यभिरुचि भी व्यापक और प्रगतिशील हो गई है।

इस विभाजन में से समालोचना का एक और स्थूल विभाजन हो सकता है—(१) शुद्ध सिद्धांत, (२) उसका प्रयोग। काव्य-मीमांसा, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्शण आदि यथं पहली प्रकार की समालोचना के उदाहरण हैं और सूर, तुलसी, जायसी, कबीर आदि पर विद्वानों की लिखी हुई समालोचनाएँ दूसरे वर्ग के अंतर्गत हैं।

हम पहले शुद्ध सैद्धांतिक समालोचना पर ही विचार करते हैं, क्योंकि यहीं समालोचना का सामान्य—विशेष नहीं—और चिरंतन स्वरूप है; और सर्वदा ही साहित्य के विषय में तो सिद्धांत स्थापन होता ही रहेगा। यह साहित्य और उसकी समालोचना के लिये एक प्रकार से सामान्य मापदंड उपस्थित करती है। प्रमेय वस्तुओं पर विचार करने के लिये पहले मापदंड चाहिए। अतः पहले इसी का विचार करना उचित है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रकार की समालोचना सामान्य सिद्धांतों की स्थापना करती है। इसका विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है? कविता सामान्य सिद्धांत-समीक्षा क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? प्रत्यक्ष सामग्री को कला किस रूप में और किन माध्यमों से ग्रहण करती है? इन

प्रश्नों पर विचार करके कला के विषय में कुछ संमति निर्धारित करना इस प्रकार की समालोचना का विषय है। रचनात्मक साहित्य के दो पक्ष होते हैं। एक कवि का पक्ष और दूसरा श्रोता या पाठक का पक्ष। अतः काव्य क्या है, केवल इसी पक्ष पर नहीं बल्कि काव्य का अनुशीलन किस दृष्टि से और कैसा होना चाहिए, पाठक की साहित्याभिरुचि कैसी होनी चाहिए, परंपराभुक्त साहित्याभिरुचि से काव्य का अनुशीलन करने में क्या त्रुटियाँ होती हैं, कैसे प्रगतिशील या विकासमयी साहित्य-भिरुचि ही काव्यानुशीलन के लिये आवश्यक है और काव्य के साथ पूर्ण न्याय कर सकती है, क्योंकि काव्य स्वयं प्रगतिशील है; नित्य नूतन सामग्री और साधनों की ओर उसकी प्रगति होती है, इस प्रकार के प्रश्नों को हल करना और फिर कुछ निष्कर्ष पर पहुँचना सैद्धांतिक समीक्षा की गवेषणा के विषय हैं। यह आलोचना एक प्रकार से आलोचना का शास्त्रीय पक्ष है और शेष प्रकार की आलोचनाएँ भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से उसके प्रयोग। हाँ, इतना अपवाद अवश्य है कि व्याख्यात्मक आलोचना उतना ही सैद्धांतिक आलोचना का आधार भी है जितना प्रयोग। सैद्धांतिक आलोचना के इतिहास से भी विभिन्न गुणों के इतिहास को समझने में सहायता मिलती है। सिद्धांत का विचार करते समय केवल परंगा प्राप्त रूढ़ि, कवि-समय और तर्कपूर्ण नियमों के ही फेर में न पड़ जाना चाहिए। समालोचक को यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सिद्धांतों का आधार साहित्य है, साहित्य का अध्ययन करने के उपरांत ही सिद्धांत निश्चित होते हैं। अतः जब सिद्धांतों में कोई दोष अथवा कमी खटके तो तुरंत मूल आधार अर्थात् साहित्य की ओर दृष्टि दौड़ानी चाहिए। ऐसे स्वतंत्र अध्ययन से सिद्धांत कसौटी पर कस जाते हैं। सच बात तो यह है कि कवि ही भाषा और भाव के शासक होते हैं और समालोचक तो उन्हीं कवियों, अपने पाठकों तथा अपनी सहायता के लिये अनुशासन करते हैं। अतः जब कहीं संदेह हो तब अपने बड़ों से (कवि-कर्म करनेवालों से) बात समझ लेनी चाहिए। ऐसा विद्या-विनय-संपन्न आलोचक

वही हो सकता है जो स्वयं भी कवि-हृदय हो, साहित्यिक रुचि का हो।

वास्तव में व्याख्या या विश्लेषण ही ऐसी प्रधान प्रस्तुति है कि जिस पर चारों प्रकार की समालोचना अवलंबित है। इसी व्याख्या से हम सामान्य सिद्धांतों तक पहुँचते हैं। इसी व्याख्या व्याख्यात्मक समालोचना के बल पर हम किसी कृति के महत्त्व का निर्णय कर सकते हैं। भावमयी समालोचना करने के लिये भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप-ज्ञान बांधनीय है, जो कि व्याख्या ही से प्राप्त होता है। इसी प्रकार की समालोचना व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठ ठहराई जाती है। समालोचक किसी भी रचना का अध्ययन एक अन्वेषक के रूप में करता है न्यायाधीश के रूप में नहीं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों तक पहुँचता है तथा इस बात का पता लगाता है कि इसका विषय क्या है। रचयिता के ढंग, दृष्टि-कोण और मत से उदारतापूर्ण अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके वह अपनी साहित्यिक अभिरुचि को अनुदारता से उदारता की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह है कि वह पूर्ण व्याख्या करके उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है। परंतु साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उसकी वह धारणा भी आम वाक्य का रूप धारणा नहीं करती, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पर्यवेक्षण के अनुसार वह भी अपने रूप में सुधार करती रहती है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी आलोचना उदारतापूर्ण तथा प्रस्तुत रचना के पूर्ण पर्यवेक्षण पर अवलंबित होती है। अतः वह न्यायपूर्ण और बुद्धिसंगत होती है। इसी लिये ऐसी समालोचना ही आजकल श्रेष्ठ और उपयुक्त मानी जाती है। इसका सबसे सरल और आरंभिक स्वरूप दिप्पणियों आरभाष्यों में मिलता है।

कुछ लोग आर्गेंट कर सकते हैं कि व्याख्या की यह पद्धति निर्जीव कल की तरह चलती है। वह आलोच्य रचना के सौंदर्य का संहार तथा कला का चीर-फाड़ करती है और उसको ऐसा सामान्य रूप देती

है कि वह साहित्याभिरुचि-रहित प्राकृत मनुष्य की कोटि तक उत्तर आती है। परंतु ऐसा विचार ब्रह्ममूलक है। व्याख्या के लिये सूक्ष्म बुद्धि और पर्यवेक्षण की कुशलता तथा पूर्णता की आवश्यकता है। चलती कला कहकर उसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। व्याख्या करते समय कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक तो रचना के अंग-प्रत्यंग को व्यष्टि रूप से न देखकर समष्टि रूप से देखना चाहिए, क्योंकि कला का रूप सदा संश्लेषात्मक ही होता है। पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समष्टि का आधार व्यष्टि ही है। इसलिये यह आलोचना भी आलोच्य रचना के भिन्न भिन्न अंगों के शुद्ध और पूर्ण अध्ययन की अवहेलना नहीं कर सकती। दूसरी बात यह है कि व्याख्या का तात्पर्य किसी रचना में केवल उपदेशों को ही ढूँढ़ना नहीं है, अथवा किसी पात्र के चरित्र-चित्रण अथवा कथानक को आद्योपांत न देखकर किसी एक कथन अथवा घटना के बल पर व्याख्या करते हुए काव्यकार पर सहसा असंगति का दोषारोपण कर देना नहीं है। कभी कभी असंगति के मिलने का यह अर्थ हो सकता है कि आलोचक की गवेषणा अपूर्ण है। तीसरी बात यह है कि व्याख्या प्रस्तुत रचना में आए हुए साक्ष्य पर ही अधिकतर अवलंबित होनी चाहिए, ऊहा के द्वारा बाहर से लाए हुए बेमेल या कृत्रिम साक्ष्य पर नहीं। ऊपर के दोष तो ऐसे हैं जो व्याख्याओं में बहुधा आ जाते हैं। पर कुछ अन्य दोष ऐसे भी हैं जो कि साहित्य-संबंधी अशुद्ध धारणाओं के कारण आते हैं; व्याख्या करते समय उनसे भी बचना चाहिए।

कवि के स्वभाव और प्रवृत्ति के ज्ञान से भी उसकी रचनाओं के समझने में सहायता मिल सकती है परंतु इसको बहुत दूर नहीं ले जाना चाहिए। किसी भी रचना में रचना के बाह्य आशयों को नहीं ढूँढ़ना चाहिए। कवि अपनी रचना का स्थान है। उसे असर्वथ स्थान नहीं समझना चाहिए। अपनी कृति को उसने जो रूप दिया है, वही उसका वास्तविक रूप है। उसके अतिरिक्त उसे दूसरा रूप

देना अनुचित होगा । किसी कवि को जीवन में अधिक शृंगार-प्रिय देखकर उसकी स्पष्टतया निर्वेदमयी उक्तियों को भी वस्तुतः शृंगार ही की कृतियाँ समझना अनधिकार चेष्टा है । संभवतः अपने जीवन की विरल अनुभूतियों ने उसे साहित्य-सृजन में प्रवृत्त किया हो, सामान्य अनुभूतियों ने नहीं । बहुधा विरल अनुभूतियों की तीव्रता सामान्य अनुभूतियों को नहीं मिलती । हमें रचना से चलकर रचयिता के आशय तक पहुँचना चाहिए । बाह्य-साच्य के आधार पर कल्पित अभिप्राय को ढूँढ़ निकालने के लिये रचना की व्याख्या नहीं करनी चाहिए ।

समालोचना अंतर या भेद को दिखाकर अपने उद्देश की ओर अग्रसर होती है । अतः व्याख्या करते समय कुछ लोग सब अंतरों के मात्रा का ही अंतर समझते हैं और तुलना करते समय जब कोई भेद देखते हैं, तो एक रचना को उच्च कैटि की और दूसरी को निम्न कैटि की कह देते हैं; या एक को शुद्ध और दूसरी को अशुद्ध बता देते हैं । परंतु अंतर प्रकार का भी हो सकता है और व्याख्यात्मक आलोचना का विषय प्रकार के भी भेदों को देखना है । उदाहरणार्थ यदि एक कवि ने बालकृष्ण का लिया है और दूसरे ने प्रौढ़ कृष्ण को तो हम इन दोनों के कृष्ण-काव्यों में एक को उच्च और दूसरे को निम्न नहीं कह सकते; उनमें मात्रा का अंतर नहीं है, वरन् प्रकार का अन्तर है । बालकृष्ण-काव्य उतना ही उत्तम हो सकता है जितना प्रौढ़ कृष्ण-काव्य ।

अतः व्याख्या करते समय हमारे लिये यह कहना ही ठीक है कि इनके काव्यों में प्रकार का अंतर है । दोनों के अपने अपने दृष्टिकोण हैं और दोनों प्रकार आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं । दोनों की निजी विशेषताएँ हैं । विशेष रूप से तुलनात्मक समालोचना में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है । बाल्मीकि के राम और तुलसी के राम अपने अपने प्रकार के हैं; एक में वे मनुष्य के रूप में गृहीत हैं, दूसरे में अवतार के रूप में । अतः एक के रामचरित्र-चित्रण को श्रेष्ठ और

दूसरे के राम-चरित्र-चित्रण के साधारण कहना भूल है। ऐसे समय में दोनों प्रकार के चरित्र-चित्रणों में प्रकार का भेद है। इतना दिखाना ही व्याख्यात्मक समालोचना का विषय है; उच्चकोटि, निम्नकोटि का फैसला देना नहीं।

किसी कवि की कृति की व्याख्या करते समय एक बात और ध्यान देने योग्य है। किसी कवि पर यह दोषारोपण नहीं किया जा सकता है कि उसने कानून या नियम का उल्लंघन किया है। साहित्य के कानून या नियम राजनीतिक कानून की तरह किसी बाहरी प्रभु-शक्ति के बनाए हुए नहीं हैं जिनका उल्लंघन अपराध ठहराया जाय। साहित्य के ये नियम तो स्वयं विकसित होते हैं। अतः जब कोई कवि किसी गृहीत सिद्धांत के विपरीत चलता है तो उसका सामान्यतया यह अर्थ लेना चाहिए कि वह किसी नए नियम का विकास कर रहा है। वह दोषी नहीं वरन् स्थित है। नियमों के उल्लंघन के द्वारा कला का विकास होता है और वह सजीव बनी रहती है। अतः साहित्य के नियमों के पालन-उल्लंघन और किसी राज्य के नियमों के पालन-उल्लंघन में क्या अंतर है इस पर भी ध्यान देना व्याख्यात्मक समालोचना के अस्तित्व के लिये आवश्यक है।

एक और बात पर ध्यान देना आवश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि समालोचक किसी कृति पर विचार करते समय ऐसी ऐसी बातें कह देते हैं या ऐसा अर्थ निकालते हैं जो उस रचना में शायद अभिप्रेत भी न हों वरन् जो केवल समालोचक के मस्तिष्क की उपज या खींचातानी मात्र हैं। वास्तव में यह दोषारोपण कुछ अंश तक सत्य भी है। व्याख्यात्मक समालोचक को इस प्रकार अपनी ओर से ऊहापोह करने से संयम से काम लेना चाहिए और किसी कृति में आए हुए साक्ष्य पर ही अवलंबित रहना चाहिए। परंतु उक्त दोषारोपण का तात्पर्य यह नहीं है कि इस प्रकार की समालोचना सर्वथा अग्राह्य या भ्रामक है; क्योंकि इस प्रकार की समालोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस पद्धति के द्वारा निश्चित व्याख्या या सम्मति की—अधिकाधिक

गवेषणा और जाँच के अनुसार साहित्य में परिवर्धन, परिवर्तन तथा सुधार की—ओर प्रवृत्ति होती है और उसे उदार दृष्टि मिलती है।

इस प्रकार की समालोचना व्याख्यात्मक समालोचना के ठीक विपरीत होती है। व्याख्यात्मक समालोचना में समालोचक अन्वेषक निर्णयात्मक समालोचना के रूप में दिखाई भी देता है; उसका विषय व्याख्या करना है; उसकी जिज्ञासा होती है

“इस काव्य में क्या है?” वह उसके द्वारा अपनी साहित्याभिरुचि को विकसित करने का अवसर पाता है; नवीन नवीन साहित्यिक शैलियों का अस्तित्व मानने की उदारता रखता है और अपने समालोचक स्वरूप को उस कृति के मेल में रखता है। परंतु निर्णयात्मक समालोचना में समालोचक न्यायाधीश के रूप में आता है; फैसला देना उसका काम है; उसकी जिज्ञासा “यह काव्य कैसा होना चाहिए था” के रूप में होती है। वह देखता है कि काव्य एक निश्चित आदर्श के अनुरूप है या नहीं। अपनी निश्चित साहित्याभिरुचि के मापदंड से वह उस कृति को देखता है; नवीनता पर नियंत्रण रखता है। कभी कभी उसका उनसे विरोध भी हो जाता है। वह साहित्यिक कृतियों को अपनी विचार-पद्धति के मेल में रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार की समालोचना आजकल अधिक प्रचलित है। ऐसी समालोचना भलेवुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति को रोकनेवाली होती है।

यह समालोचना एक भ्रम से पूर्ण है। अँगरेजी शब्दों का अनुकरण करते हुए हम इसको “मूल्य का भ्रम” कह सकते हैं। समालोचक कला के संपूर्ण स्वरूप—उपादान, उपकरण, माध्यम—का मूल्य निर्धारित करना चाहता है, जो असंगत है, क्योंकि कला का एक ही अंग मूल्य निर्धारण का विषय बन सकता है, सब नहीं। जैसे किसी चित्रकार के द्वारा किया गया प्रकाश का प्रयोग विश्लेषण और मूल्य निर्धारण का विषय हो सकता है, परंतु स्वयं प्रकाश नहीं; अतः कला को जो रूप और अंश—(उदाहरणार्थ शैली)—इस प्रकार की समालोचना के लिये उपयुक्त है उतना ही इसका विषय होना चाहिए, संपूर्ण के एक ही मापदंड से

नापना भ्रामक है। एक बात और विचारणीय है। फैसला देने के लिये किसी प्रामाणिक माप-दंड की आवश्यकता है जिससे परखकर कोई फैसला किया जा सकता है। अतः समालोचना के ज्ञेत्र में साहित्यिक अभिरुचि का प्रामाणिक स्वरूप क्या हो सकता है यह देखना चाहिए। इसमें दो भिन्न मत हैं। एक तो किसी समालोचना-संस्था की सम्मति को प्रामाणिक मानते हैं, जैसे फ्रांस की एकेडमी। आर्नल्ड ऐसी संस्था का समर्थन करते हैं। परंतु इसको मान लेने पर भी यह देखना आवश्यक है कि कोई भी संस्था किसी कलाकार की मौलिकता और प्रतिभा को रोक नहीं सकती। अतः ऐसी संस्थाओं की सम्मति का आवश्यक परिवर्तनों के साथ स्वीकार करना चाहिए। दूसरा मत समालोचक कोट्टहोप का है। उसका कहना है कि ऐसी संस्था पर विश्वास करना भ्रमरहित नहीं है। समालोचना में भी अंतःकरण का ही अनुसरण करना चाहिए। ऐसा साहित्यिक अंतःकरण, कलाकार की आत्मा और स्वयं अपनी आत्मा दोनों को विचार में रखकर साहित्यभिरुचि का ऐसा प्रामाणिक रूप बना लेता है जो निर्णय करने में सहायक होता है।

अंत में इस प्रकार की समालोचना के विषय में दो बातें और कहनी हैं। पहले ऐसी समालोचना व्याख्या के बिना न्यायपूर्ण और उचित नहीं हो सकती। ऐसी समालोचनाओं में हम समालोच्य रचना के विषय में उतना अधिक परिचय नहीं पाते जितना कि फैसला देनेवाले समालोचक की आत्मा का। शेक्सपियर और मिल्टन पर फैसले देनेवालों—राइमर, एडिसन, जानसन, वाल्टर्यर—के भिन्न भिन्न और कभी बिलकुल विपरीत निर्णयों को देखकर इन निर्णयों की विचारधारा का ही पता लगता है, शेक्सपियर और मिल्टन की कला का नहीं। शेक्सपियर तो शेक्सपियर ही है और रहेगा, परंतु इन समालोचकों ने उसे और का और बना दिया है। और कदाचित् आगे भी समालोचक ऐसा ही करते जायँ। निर्णय देनेवाले आलोचक तीन प्रकार के होते हैं। पहले वे जो अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय करते हैं; वे नियम नहीं जानते। दूसरे वे जो केवल नियमों को भिलाकर सम्मति

स्थिर करते हैं। तीसरे वे बड़े निर्णायक होते हैं जो नियमों के विशेषज्ञ तो होते हैं, पर रहते हैं नियमों के परे। ये तीसरे प्रकार के निर्णायक सबसे बड़े माने जाते हैं। दूसरी श्रेणी में आते हैं स्वभावानुगामी आलोचक, पर केवल नियम के पीछे मरनेवालों का कोई आदर नहीं होता। इन्हीं अंध नियम-प्रेमियों की हँसी उड़ाते हुए लोकमान्य तिलक ने लिखा था कि कालिदास के जिन ग्रंथों के आधार पर ही लक्षण-ग्रंथों की रचना हुई है उन ग्रंथों में लक्षण-ग्रंथों के अनुसार दोष देखना कैसी विचित्र बात है।

जैसा कहा जा चुका है, इस प्रकार की आलोचना में भावावेश अधिक होता है, विवेचन की मात्रा इसमें कम रहती है। जब

आत्मप्रधान अथवा आलोचक विवेचन-पद्धति को छोड़कर केवल अपनी व्यक्तिगत रुचि या अरुचि को अपनी स्वतंत्र आलोचना आलोचना का आधार बनाता है तब इस प्रकार की समालोचना का जन्म होता है। मनुष्य मनुष्य है, वह अपनी रुचि अथवा अरुचि को साहित्यिक आलोचना में से सर्वदा अलग नहीं कर सकता। इसी कारण उस समालोचना का उदय होता है जिसमें आलोच्य ग्रंथ या ग्रंथकार को प्रधानता नहीं प्राप्त होती, आलोचक के दृष्टि-कोण की प्रधानता मिलती है। जितनी एकपक्षी साहित्यिक निर्दार्शन या प्रशंसार्थ हुआ करती है उन सबको भावात्मक आलोचना के अंतर्गत समझना चाहिए। ऐसी आलोचनाओं को इसलिये नहीं पढ़ना चाहिए कि आलोच्य ग्रंथ कैसा है, उसमें क्या है; किंतु इसलिये कि आलोच्य ग्रंथ को वह आलोचक क्या और कैसा समझता है। उन आलोचनाओं से आलोच्य ग्रंथ के संबंध में हमारा ज्ञान-वर्धन नहीं होता, स्वयं आलोचक के संबंध में ज्ञान-वर्धन होता है। ऐसी आलोचना चाहे आलोचना की दृष्टि से उपयुक्त न हो किंतु इसमें संदेह नहीं कि उसका रचनात्मक साहित्य में स्थान है। ज्यों ज्यों साहित्य में व्यक्ति प्रधानता बढ़ती जायगी त्यों त्यों इस प्रकार की आलोचना का भी आधिक्य होता जायगा।

आलोचना की इतनी सामान्य चर्चा कर लेने पर अब मुख्य बातें केवल तीन रह जाती हैं—(१) आलोचना की वैज्ञानिक प्रक्रिया, (२) आलोचना की ऐतिहासिक समीक्षा और (३) उसकी वर्तमान गतिविधि (अर्थात् उसका अपने साहित्य में प्रयोग)। स्वरूप-निर्णय के बाद सहज ही प्रक्रिया का प्रश्न आता है और किसी भी विषय की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विवेचन बिना इतिहास के सहारे नहीं हो सकता। इन सब के अंत में वायोगविद् अध्यापक और व्यवहार-चतुर विद्यार्थी के लिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि कुछ तथ्यों को ठिकर करके उनका व्यवहार और प्रयोग जाना जाय। इस प्रकार यह किसी भी विषय के आलोचना की साधारण विधि है। यही आलोचना के आलोचन की भी विधि होनी चाहिए।

आलोचना के ज्ञेत्र में कवि और भावक (अर्थात् साहित्यकार और साहित्य-समालोचक) दोनों के कर्म और स्वभाव को सदा ही ध्यान में रखकर चलना होता है। दोनों के ही कर्म स्वरूप-निर्णय पर एक दृष्टि सुकुमार और कठिन होते हैं और दोनों ही स्वभाव से अनुभूतिवाले मनुष्य होते हैं। इस प्रकार हमारी दृष्टि से दोनों ही एक लोक के—एक मधुमती भूमिका के—रहनेवाले, एक जाति के और एक समान हृदयवाले व्यक्ति होते हैं, दोनों ही प्रकाशमयी चेतना के दर्शन करने-करानेवाले हैं। जिस प्रकार कवि जीवन की चेतना का प्रत्यक्ष करता है और अपने कवि-कर्म द्वारा उसका आनंदानुभव स्वयं करता है और दूसरों को कराता है उसी प्रकार आलोचक उस कवि-कर्म अर्थात् साहित्य की चेतना का प्रत्यक्ष करता है, एक सहदय के नाते उसका रस लेता है और अपने आलोचना-रूपी कर्म से दूसरों को उसका मूल्य और महत्व समझाता है। दोनों ही चेतना को अकित करते हैं पर दोनों की कला में भेद होता है। साहित्यकार जीवन की अनुभूतियों को

* 'प्रत्यक्ष' में वही पर-प्रत्यक्षवाला अर्थ लेना चाहिए जिसका विवेचन पीछे रस-प्रकरण में हो चुका है।

अपनी कला से इस प्रकार अभिव्यंजित करता है कि वे अभिव्यंजन सरस और संवेदनीय हो जायें, पर समालोचक उन्हीं अभिव्यंजनों का भावन करके अपनी कला से उनका ऐसा विवेचन करता है कि उनका मूल्य निर्णय हो जाय। अर्थात् कवि की कला अभिव्यंजना प्रधान होती है और आलोचक की कला है विवेचना-प्रधान। एक का लक्ष्य होता है संवेदन और दूसरे का लक्ष्य होता है मूल्य निर्णय अथवा निर्धारण। इसी लक्ष्य-भेद से दोनों की प्रक्रिया में भी भेद होता है— कवि की प्रक्रिया तरंगों में बहनेवाली भावना-प्रधान होती है, और आलोचक की प्रक्रिया होती है सीधी सरल, स्थिर और दोनों ओर देखकर चलनेवाली वैज्ञान-प्रधान।

आजकल की वैज्ञानिक प्रक्रिया के दो सामान्य पक्ष हैं—तुलना और इतिहास। साहित्य की आलोचना भी तभी वैज्ञानिक होती है जब

तुलना

और इतिहास के आधार पर उसकी

भित्ति उठाई जाती है। जिस आलोचक की दृष्टि तौलनिक और ऐतिहासिक न होगी वह भले ही साहित्य का भाव प्रहण करके भावुक बन जाय, पर वह सज्जा पारखी तो कभी नहीं हो सकता। जो बिना देश और काल का विचार किए शेक्सपियर और कालिदास की अथवा मिल्टन और माघ की तुलना करने वैठते हैं वे धोखा खाते हैं और प्रायः अनर्थ कर वैठते हैं। तोलने (अर्थात् तुलना करने) के पहले अपनी तुला ठीक कर लेनी चाहिए। भारत की तुला दूसरी है और यूनान अथवा इंग्लैंड की तुला दूसरी है। इतना ही नहीं, भारत के प्राचीन काल में आलोचना की जो कसौटी थी वह अर्वाचीन काल में दूसरी हो गई है। यूरोप में ही अरस्तू के काल में जो आलोचना की कसौटी थी वह एडिसन आदि के अर्वाचीन काल में नहीं रही। अतः उन्हीं कवियों की परस्पर तुलना हो सकती है जो एक ही देश और काल के हों, जिनकी सीमा और लोक-रुचि एक-सी रही हो। कभी कभी आंशिक तुलना भी लाभकर होती है पर उस अर्ध-तुलना को कामचलाऊ ही समझकर आगे बढ़ना चाहिए।

तुलना के उपरांत प्रश्न आता है इतिहास का। जिस साहित्य के एक रत्न को भावक परखना चाहता है उस साहित्य की रूप-रेखा उसे अवश्य जाननी चाहिए। किसी साहित्य का इतिहास लिखना स्वयं ही आलोचना का काम है पर साधारण आलोचक के लिये इतिहास ही सहायक होता है। अतः जिस साहित्य की अथवा जिस विषय की आलोचना करना हो उसका इतिहास जानना परमावश्यक है। जो इतिहास नहीं जानते वे साधारण पूर्वापर की भूलें तो करते ही हैं, कभी कभी वे बड़ी भद्री बातें भी कह डालते हैं। जैसे आजकल के कई कलाविद् बननेवाले और आलोचक-नाम-धारी सज्जन कह बैठते हैं कि 'गुप्तकाल के लोगों का वेष तो हमें अच्छा नहीं लगता', 'हमें तो कालिदास और भवभूति की रुचि भी कुछ अच्छी-सी नहीं लगती', 'अरे भाई, ऋग्वेद में तो कई बातें अश्लील लगती हैं।' ये सज्जन यदि उस समय की लोक-रुचि, उस समय की संस्कृति तथा उस समय का मापदंड जानते, यदि वे थोड़ा इतिहास जानकर सहृदय की भाँति व्यवहार करते तो कभी ऐसी अशिष्ट और भ्रामक बातें उनके मुँह से न निकलतीं। अतः किसी भी कवि अथवा काव्य की आलोचना करने के लिये ऐतिहासिक दृष्टि रखकर ही कलम उठानी चाहिए।

तुलना और इतिहास के साथ ही आलोचक को इस सामान्य बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि यद्यपि देश-काल तथा व्यक्ति का भेद विश्वरुचि अर्थात् रखना परम आवश्यक है तथापि एक मानव मानव-आदर्श आदर्श अथवा विश्वरुचि की भी स्थापना करनी पड़ती है। आज-कल के युग में सभी देश, समाज और साहित्य एक-दूसरे के इतने निकट आ रहे हैं कि दूरदर्शी, तटस्थ और विश्वहृदय के उपासक आलोचक को इस एकता पर अवश्य ध्यान देना पड़ता है।

सच बात तो यह है कि भाव-जगत् का पारखी कवि जब साधारणी-करण की अवस्था में कुछ रचता है तब उसकी कृति विश्व भर की संपत्ति हो जाती है। यद्यपि कवि के साधन देश-काल से सीमित

रहते हैं तथापि उन साधनों के भीतर एक प्रकाश छिपा रहता है जिसे परखना और पहचानना समालोचक तथा सहदय दोनों का ही कर्तव्य है।

इस प्रकार तुलना और इतिहास की दृष्टि के साथ हा भाव-जगत् की पहचान रखनेवाला पारखी आलोचक 'गुणी' माना जाता है, अपनी कला का पंडित माना जाता है। पर अब ऐसे गुणी और दोष दोषों को भी जानना चाहिए जिनके कारण ऐसा 'गुणी' 'निरगुणी' हो जाता है। इन दोषों में पहला दोष है पारिभाषिक शब्दों का अज्ञान। पारिभाषिक शब्दों का दो पक्षों से विचार करना पड़ता है। पहले तो कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द होते हैं जिन्हें कवि अथवा साहित्यकार ने अपने विशेष अर्थों में प्रयुक्त किया है, उनका अर्थ वही लेना चाहिए जो कवि को मान्य हो। दूसरे वे संज्ञाएँ आती हैं जिनका प्रयोग स्वयं आलोचक करता है।

यदि आलोचक अपनी शब्दावली को पहले ही स्पष्ट नहीं कर देता है तो उसकी आलोचना प्रायः आलोक के बदले अंधकार ही फैलाती है।

(१) पारिभाषिक उसे एक अर्थ में एक ही शब्द का व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि उसके शब्द तो मान-तुला शब्दों का निर्णय के बटखरों का काम करते हैं और बटखरों की गडबड़ी से तो सारा शब्द-व्यापार ही बिगड़ जा सकता है।

शब्दों का यह विचार तां कवि और आलोचक के लिये ही नहीं सभी पाठकों के लिये आवश्यक है। आजकल हिन्दी-संसार में जो कहीं कहीं धौंधली देख पड़ती है और कभी कभी अकारण भ्रम फैल जाता है उसका एक बड़ा कारण है शब्दों की अस्थिरता और भ्रम। लेखक एक अर्थ में प्रयोग करता है और पाठक उसे दूसरे अर्थ में समझ लेता है। दोनों को सतर्क और सावधान होने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये यदि कोई पाठक अथवा आलोचक हमारे साहित्यालोचन का पढ़ने बैठें तो उसे हमारे माने हुए अर्थों में ही शब्दों को समझकर हमारा भाव ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा भ्रम होगा। इमने संस्कृत के साहित्यशास्त्र, पञ्चिम के आलोचना-ग्रंथ और कुछ हिंदी के चलते विचार—सभी से सहायता ली

है। आजकल की हिंदी (साहित्य और भाषा दोनों) पर पश्चिम का बड़ा प्रभाव पड़ रहा है, हमारी आलोचनाओं में शब्द तो संस्कृत के रहते हैं पर उनके साथ संसर्ग और भाव तीन समुद्र तेरह नदी पार पश्चिम के रहते हैं। इससे बड़ी कठिनाई यह आती है कि उन संस्कृत शब्दों में हमारे युग के और हमारी परिस्थिति के अनुरूप कुछ नए अर्थ भी आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में सदा प्रत्येक लेखक द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अर्थ समझकर ही अलोचना-प्रत्यालोचन करना चाहिए।

अँगरेजी का एक शब्द है लिटरेचर (Literature)। स्वयं अँगरेजी भाषा में भी इसके दो अर्थ होते हैं—एक रसात्मक साहित्य और दूसरा साहित्य मात्र। दूसरे शब्दों में एक को काव्यमय साहित्य और दूसरे को शास्त्रीय साहित्य कहते हैं। इसी व्यापक अर्थ में साहित्य का प्रयोग हिंदी में हो रहा है; जैसे हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, साहित्य-परिषत्, साहित्य का इतिहास, वैज्ञानिक साहित्य इत्यादि। हमने भी साहित्य का यही व्यापक अर्थलिया है। संस्कृत में साहित्य का अर्थ थोड़ा भिन्न होता है—‘शब्दार्थोः सहभावेन विद्या साहित्यविद्या’। इस प्रकार साहित्य संस्कृत में एक विद्या है। कहीं कहीं साहित्य काव्य का पर्याय भी माना जाता है। अतः संस्कृत के विद्यार्थी को साहित्य शब्द से हमारी रचना में हमारा अर्थ लेना चाहिए, संस्कृतवाला अर्थ नहीं। साहित्य का अर्थ इतना व्यापक हो जाने से हमने शुद्ध साहित्य अर्थात् काव्यमय साहित्य के लिये काव्य शब्द का व्यवहार किया है। संस्कृत में काव्य शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ होता है तो भी काव्य को कविता (अर्थात् अँगरेजी के Poetry शब्द) का पर्याय मान लेने से बड़ा भ्रम हो सकता है। जैसे अँगरेजी में (शुद्ध) लिटरेचर के अंतर्गत कविता, नाटक, उपन्यास, गद्य-काव्य, निबंध, आलोचना आदि सभी आ जाते हैं उसी प्रकार हमारे काव्य के भीतर सभी का अंतर्भाव हो जाता है। कुछ निबंध और आलोचनात्मक प्रबंध ऐसे भी हो सकते हैं जो अधिक शास्त्रीय हों तो उन्हें हम छाँटकर शास्त्रीय साहित्य में रख देंगे पर साधारणतया तो निबंध और आलोचना भी हमारे काव्य में आ जाते हैं, क्योंकि हम

काव्य के भीतर उन सब ग्रंथों को रखते हैं जो अपनी विषय-वस्तु और वर्णन-शैली के कारण सामान्यतः सभी मनुष्यों को रुचते हैं और जिनमें रूप और रूपजन्य आनंद का होना परमावश्यक माना जाता है। इतिहास, व्याकरण, भाषाविज्ञान, दर्शन, ज्योतिष, राजनीति आदि का ग्रंथ काव्यमय भाषा में होने पर भी काव्य इसलिये नहीं माना जा सकता कि वह सर्वसाधारण का विषय नहीं है, उसकी चाह करते हैं उन उन विषयों के जिज्ञासु (विद्यार्थी अथवा पाठक) ही। दूसरा कारण यह है कि शास्त्रीय ग्रंथ का लक्ष्य रहता है ज्ञान-प्रतिपादन और काव्यमय ग्रंथ का लक्ष्य सदा भावप्रधान होता है। यद्यपि काव्य से भी शिक्षा मिल सकती है तथापि उसका प्रधान लक्ष्य होता है सुखात्मक भाव अथवा कलात्मक निरूप्ति (aesthetic satisfaction)।

आज दिन हिंदी के विद्यार्थी और लेखक सभी अँगरेजी साहित्य और साहित्य-शास्त्र दोनों का नित्य आलोचन करते हैं; इसी से हमारे विवेचन अँगरेजी और संस्कृत के अर्थ और व्यवहार में भी अँगरेजी के अर्थ आ गए हैं। तथापि हिंदी का अपनापन रखने के लिये हम सदा संस्कृत और हिंदी के भावों की रक्षा करते हैं। हिंदी की समालोचना-प्रक्रिया में पूर्णता लाने के लिए संस्कृत के सभी सुन्दर तत्त्वों का ले लेना होगा। काव्य स्वरूप-निर्णय, काव्य-भेद-निर्णय, रस-मीमांसा आदि सभी में हमने संस्कृत-शास्त्र का यथाशक्ति इतना अधिक उपयोग किया है कि उस विवेचन से संस्कृत के विद्यार्थी भी लाभ उठा सकते हैं और इसी प्रकार पश्चिम और पूर्व के समन्वय से हिंदी अपनी अपूर्व और निजी वस्तुएँ अपने लिए अलग बना लेगी। यह सब लिखने का अभिप्राय इतना ही है कि आलोचक को सहदृश्य और संवेदनापूर्ण होकर दूसरों के भावों तथा अर्थों को पहले देखना चाहिए, व्यर्थ शब्दों की खाल न खींचनी चाहिए। जैसे साधारणीकरण से अँगरेजी का जेनरलाइजेशन और अलौकिक से सुपरनेचुरल का अर्थ न लेना चाहिए। इनकी व्याख्या यथास्थान देखकर ही उन पर टीका-टिप्पणी करनी चाहिए। यदि धीरज के साथ शब्दकार के अर्थों पर

ध्यान दिया जाय तो समालोचना से कठुता शीघ्र ही चली जाय और सचमुच तत्त्व का बोध और निर्णय होने लगे।

हम तो कहते हैं कि आलोचन और अध्ययन के केत्र में यदि हम शब्दों का उचित अर्थ समझकर आगे बढ़ते हैं तो सभी बातें सहज हो जाती हैं। लेखक, आलोचक, अनुवादक, वक्ता सभी को अपनी निश्चित शब्दावाली रखनी चाहिए और व्याख्याता को उन पर पहले ध्यान देना चाहिए। इसी से भारतीय ग्रंथों में सबसे पहले संज्ञा प्रकरण आता है; इसमें संज्ञाओं अर्थात् पारिभाषिक शब्दों का अभिधान रहता है।

यदि विचार कर देखें तो हमारा साहित्यालोचन क्या है—कुछ शब्दों की व्याख्या जैसे कला, साहित्य, काव्य, कविता, उपन्यास, नाटक, निबंध, रस, शैली, आलोचना आदि। इस प्रकार यह सब शब्दों की ही लीला है। अतः शब्दकार और उसकी कृति के साथ यदि न्याय करना हो तो शब्दों का विचार और व्यवहार दोनों ही ठीक होना चाहिए।

शब्द-विचार अथवा वाच्योग कहने में तो बड़ा सरल लगता है पर इसका निर्वाह इतना सरल नहीं होता। जिस प्रकार यह कहना सहज है कि अपने समान ही सबको समझना चाहिए ('आत्मौपम्येन सर्वत्र' अथवा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु') उसी प्रकार शब्द-व्यवहार की बात भी है। करना दोनों का बड़ा कठिन पर साथ ही बड़ा उपकारक होता है।

जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान अनिवार्य है उसी प्रकार शब्द-शक्ति का ज्ञान भी अधिकारी समालोचक के लिये अनिवार्य होता है। कवि यदि सिद्ध हो जाते हैं तो उनके शब्द गा देते हैं उनमें एक अर्थ आ जाता है, पर आलोचक तो उनके अभिप्रेत है कि पहले मन में अर्थ सामने आता है तब उसका प्रकाशन होता है शब्द द्वारा। इसी प्रकार जब पाठक अथवा भावक पहले अपने ज्ञान, अनुभव तथा संस्कार के सहारे अर्थ का साक्षात्कार कर लेता है तभी उस शब्द (अर्थात् भाषा) का संज्ञा बोध होता है। कोष और व्याकरण

से शब्द का सच्चा वेाध नहीं होता। इसी से भारतीय प्राचीन मर्मज्ञ और आधुनिक पश्चिमी आलोचक सभी एक-वाक्य होकर कहते हैं कि आलोचक के लिये यह बड़े महत्त्व का कार्य है कि वह शब्दों की सच्ची (आलंकारिक तथा औपचारिक अर्थों आदि वाली) शक्ति के स्वयं समझे और समझावे। इसी से शब्द-शक्ति भारतीय आलोचना-शास्त्र का मुख्य विषय बन गई है। इस विषय के अज्ञान से भी हिंदी में बड़ा अनर्थ हुआ है। अतः इस दोष से भी बचने का सदा यत्न करना चाहिए।

विद्यार्थी शब्द-शक्ति के विचार में ऐसी बातों का भी विचार कर लेता है कि किस प्रकार प्रसंग, वक्ता, श्रोता, प्रयोग आदि का विचार न करके शब्दों, वाक्यों अथवा काव्यों का उलटा अर्थ लगाया जाता है। जैसे एक आलोचक कहता है कि गोसाई जी ने खियों की बड़ी निंदा की है—

नारि-स्वभाव सत्य कवि कहर्ही ।

अवगुन आठ सदा उर बरही ॥

इन पंक्तियों में निंदा मालूम पड़ती है पर यदि यह देखा जाय कि किसने कहा है, किस प्रसंग में कहा है और किस अवस्था में कहा है तो स्पष्ट हो जायगा कि भगड़े के समय रावण ने मंदोदरी से ऐसा कहा है। क्या कोई भी समझदार विवाद अथवा कलह के समय कही हुई बातों को ठीक मानता है? इस प्रकार यह तो वास्तव में रावण का भी सच्चा विचार नहीं है और कवि का तो इससे कोई संबंध ही नहीं है। इस प्रकार वक्ता, बोधव्य, प्रसंग आदि का विचार शब्द-शक्ति के भीतर ही आ जाता है और समालोचना से इनका संबंध बिना कहे ही सिद्ध है।

समालोचना में तीसरा दोष आता है साहित्य की आत्मा न पहिचानने से। आलोचक अंग-प्रत्यंग का विवेचन (३) साहित्य की आत्मा करने में इतना भूल जाता है कि उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि इस काव्य में एक ऐसा लावण्य क्षी है जो

* देखिए—धन्यालोक—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्त्वसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनाम् ॥ १—४ ॥

किसी एक अंग में नहीं है। अतः पूरे काव्य का क्या सौंदर्य है इस पर ध्यान रखकर तब अंग-प्रत्यंग की परीक्षा करनी चाहिए। अन्यथा सब विश्लेषण और विवेचन हो चुकने पर और शब्द-शक्ति की सहायता लेकर भी कोई पाठक सज्जा सहदय अथवा आलोचक नहीं हो सकता। इस प्रकार व्याकरण, काष तथा आलोचनाशास्त्र के आश्रित आलोचक को ही डा० जानसन ने निकृष्टतम और अधम आलोचक माना है। विज्ञान के जगत् में अंग-अंग की व्याख्या से ज्ञान हो सकता है पर भाव और सौंदर्य के लोक में तो जो उन अंगोंवाले पूरे अंगी को नहीं समझता वह उसके अंगों को भी नहीं समझ सकता।

आलोचक शब्द-शक्ति की ओर ध्यान नहीं देते अतः उसका मर्म नहीं पहचान पाते। साथ ही उन्होंने आलोचना की इतनी विधियाँ अपना ली हैं कि प्रायः एकांगी आलोचना ही संभव होती है पर इन दोषों का परिहार आवश्यक है।

ऐसे ही दोषों में से एक भयंकर दोष है विषय और मान-तुला (समालोचनाशास्त्र) का अनिश्चय। जो आलोचक स्वतंत्र आलोचना (४) विषय और मानदंड (free & subjective criticism) लिखते हैं उन्हें भी इतना तो ध्यान में रखना ही चाहिए कि उस कृति का विषय क्या है और उस पर भारतीय दृष्टि-केण्ठ से विचार करना है अथवा आधुनिक सिद्धांतों के अनुसार। इन दोनों बातों का संकेत तो ऐतिहासिक बुद्धि में ही मिल जाता है, पर यहाँ स्पष्ट कहना इसलिये आवश्यक हो गया क्योंकि इस दोष से बड़ी गड़बड़ी होती है। विषय तो है उपन्यास अथवा निबंध पर आलोचकजी केवल रस-निर्णय ही में लगे रहते हैं तो कैसे पूरा पड़ सकता है। उन्हें तो उपन्यास के सभी तत्वों को लेकर आधुनिक विधि से आलोचन करना चाहिए। ये अधिक अंशों में आधुनिक युग की कृतियाँ हैं। उनके लिये नियम भी आधुनिक ही होंगे। इसी प्रकार यदि भाषा-विज्ञान अथवा साहित्यशास्त्र का विषय है तो उस पर जानकार को ही कलम उठानी चाहिए। कभी यदि किसी

अनुवाद की आलोचना करनी है तो वहाँ भी पहले अपनी कसौटी सामने रखकर कि ऐसा अनुवाद आदर्श होता है, उस कृति का गुण-दोष विवेचन करना चाहिए। अतः गुण-प्राहक होने के लिये तो यह विषय और मानदंड (= प्रमेय और प्रमाण) का ज्ञान पहली आवश्यकता है। समालोचना लक्ष्य और लक्षण के आधार पर ही चलती है।

पांचवाँ दोष आता है लक्ष्य भ्रष्ट होने से। किसी भी कला-कृति अथवा क्रान्ति की आलोचना के दो ही प्रधान लक्ष्य माने जाते हैं (प.) लक्ष्य की अन-रसास्वादन और मूल्य-निर्धारण। हम पीछे जिन्हें व्याख्याकार और स्वतंत्र समालोचक न्यता और अनासक्ति बता चुके हैं वे दोनों प्रकार के भावक साहित्य का विवेचन केवल इसी लिये करते हैं कि उनकी व्याख्या अथवा प्रबंध-रचना से वे स्वयं रस ले सकें और दूसरे को भी वही रस पिला सकें। अब बचे वे सज्जन जो मूल्य-निर्धारण द्वारा निर्णयिक और आचार्य बनते हैं। इन दोनों ही प्रकार के आलोचकों का लक्ष्य रहता है साहित्य का उपकार और अनुशासन। प्रायः मूल्य-निर्धारण इसी लिये किया जाता है जिससे गुणी के गुणों का ग्रहण हो और दोषों का परिहार हो। इसी कार्य के लिये सिद्धांतों की स्थापना भी की जाती है।

अब देखना यह है कि रसवाले तो अधिक नहीं भटक सकते क्योंकि यदि वे रस के लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं तो रस नहीं ले पाते। बस यहाँ उन्हें दंड मिल जाता है। जो रस नहीं ले पाया वह अरसिक न व्याख्या ही लिख सकता और न वह कोई स्वतंत्र प्रबंध ही उस संबंध में लिख सकता है। असली दोष तो फैलता है मूल्य औँकनेवालों से। यदि ये भूल जाते हैं कि हम साहित्य का उपकार तथा अनुशासन करनेवाले हैं और कहीं ये समझ बैठते हैं कि कुछ साहित्यकारों का उपकार करना है और हम शासक और आचार्य हैं तो अवश्य ही साहित्य में राग-द्वेष बढ़ता है और आलोचना शाप बन जाती है। इसी से यह लक्ष्य सदा ध्यान में रहना चाहिए कि हमें गुणी से कोई मतलब नहीं है, हमें तो उसके गुणों का ग्रहण और दोषों के विवेक द्वारा साहित्य

की सेवा करना है। इस प्रकार की हंस-बुद्धिवाला सज्जन ही नीर-क्षीर-विवेक द्वारा दूध पिलाकर साहित्य को पुष्ट कर सकेगा। ऐसी सद्बुद्धि प्राप्त करने का उपाय है अनासन्ति।

एक दोष और आलोचना के लिये बड़ा बातक होता है। वह है भाषा और शैली की गहनता तथा अस्पष्टता। जैसा पहले कह चुके हैं,

(६) अस्पष्टता यदि पारिभाषिक शब्दों का प्रकरण स्पष्ट हो जायगा

तब तो यह कठिनाई आधी दूर हो जायगी। तो भी जो लोग समास शैली और क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं उनसे कभी कभी हानि हो जाती है और अधिक लाभ तो कभी भी नहीं होता, क्योंकि उन आलोचनाओं की भी फिर व्याख्या करनी पड़ती है। अतः व्यास शैली और सरल भाषा का व्यवहार ही आलोचना में आदर्श माना जाता है। प्राचीन काल के भी शंकर, सायण मल्लिनाथ आदि प्रसिद्ध आलोचकों ने सरल व्यास शैली में ही लिखा है।

जब जब हम सायण की भूमिका, मम्मट की वृत्ति तथा वाचस्पति मिश्र की टीका पढ़ते हैं तब तब हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों

संस्कृत आलोचना- का प्रतिपादित पूर्वपक्ष ही सुंदर बन पड़ा है। पद्धति की विशेषताएँ यह बड़ी अद्भुत विशेषता है और आलोचना के

इतिहास में बड़े गौरव की बात है। जब कोई आलोचक आपके सामने खंडन मंडन करता है तब वह पहले एक पक्ष रखता है, उसका स्वरूप बताकर तब उसका खंडन करता है। वह पहले जिस विषय अथवा पक्ष का मंडन करता है उसे पूर्वपक्ष कहते हैं; और उस पक्ष का खंडन करके फिर वह जिसका मंडन तथा निरूपण करता है उसे उत्तरपक्ष कहते हैं। बड़े बड़े समालोचकों में यह दोष होता है कि वे पूर्व-पक्ष को बिगाड़ कर दिखाते हैं और सहज ही में उसका खंडन कर डालते पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष हैं। पर ऐसी आलोचना उस विषय के मर्मज्ञ को कभी नहीं सुहाती। यदि आलोचक पूर्वपक्ष को भेद-भाव छोड़कर देखा करें तो निश्चय ही वाद-विवाद कम हो, तत्त्व-वाद अधिक हो और किसी भी कृति का सच्चा मूल्य सामने आ जाय।

यह पञ्चपात का दोष—अपने पञ्च का मोह—इतना सहज होता है सबसे बड़ा गुण कि बड़े बड़े विद्वान् विना जाने यही भूल कर जाते हैं। इसी से आचार्यों ने कहा है—
नात्रारीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।

दोषोऽविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥

हमारे मन का साधारण दोष है अपने पराए का भेद करना। इसी से अपने से मोह और दूसरे से द्रोह अकारण हुआ करता है। 'मैं और मेरा' की भावना का यह तो प्रत्यक्ष फल है कि मन पराए की चीज़ को अपनी से हीन अवश्य समझता है। ऐसी स्थिति में मन बहुत अधिक दोषदृष्टि-पर न होने पावे; नहीं तो जहाँ दोष नहीं विद्यमान रहता वहाँ भी दोष देखनेवालों को दोष सूझने लगता है। अतः मन के निर्दोष रखने का यथासंभव अभ्यास करना चाहिए।

इस मन के निर्दोष बनाने और परपञ्च तथा पूर्वपञ्च के समझने योग्य बनने का अभ्यास कैसे हो ? साधारण उत्तर हो सकता है—ज्ञान से। पर सच बात तो यह है कि साधारण पढ़ने-पढ़ाने से यह ज्ञान नहीं होता और न साधारण साहित्यिक अभ्यास से ही ऐसा निर्मल स्वभाव बनता है। इसके लिये तो दो ही साधनाएँ हो सकती हैं—एक संतों की साधना और दूसरी कवियों की। पहली (ज्ञानवाली) साधना को वेदांत, योग आदि के साधक अपनाते हैं। दूसरी साधना होती है भाव की वह या तो जन्म से प्राप्त रहती है अथवा सरस बनने से सिद्ध हो जाती है। पहला उपाय सबके लिये सुलभ नहीं है पर दूसरा सर्वसाधारण के लिये है। सभी सरस होकर अपनी दृष्टि विशाल और पञ्चपात-रहित बना सकते हैं। यह सरसता तो ऐसा गुण है जो मनुष्य-मात्र में होना चाहिए—कवि, भावक, भावुक सभी में होना चाहिए। यही आनंद, ज्ञान, सुख-संपत्ति सभी का मधु-स्रोत है। आलोचना का तो यह प्राण है।

लोग भ्रम से साक्षरता को अधिक महत्त्व दिया करते हैं, पर जो अनुभवी हैं वे जानते हैं कि जीवन और साहित्य दोनों में ही साक्षरता

से सरसता का महत्त्व अधिक है। हम पीछे भी कह चुके हैं कि कोई व्यक्ति पढ़ा-लिखा होने पर भी बिना पूर्ण दृष्टि के किसी कृति की परख नहीं कर सकता। वह पूर्ण दृष्टि तो मिलती है सरस होने से और तभी सब चीजें सच्चे रूप में देख पड़ती हैं। इसी से हमारे यहाँ की परिपाठी है कि सरसता पहले और साक्षरता पीछे। सरस-हृदय को ही विद्या और अधिक योग्य बना सकती है, पर नीरस हृदयहीन को वह कुछ नहीं कर सकती। एक प्रसिद्ध उक्ति है—

साक्षरा* विपरीताशचेद् राक्षसा एव केवलम् ।

सरसो विपरीतोपि सरसत्वं न मुच्छति ॥

यदि साक्षर मनुष्य थोड़ा उलटा चला, भावभ्रष्ट हुआ, भेद-भाव में पड़ा तो वह कोरा राक्षस ही होता है (अपनी विद्या-बुद्धि से अनर्थ करता है), परंतु सरस बिगड़ने पर भी सरसता नहीं छोड़ता।

अतः कला और साहित्य के ज्ञेत्र में सरसता का प्रथम स्थान है और समालोचक का यह सबसे बड़ा गुण है। यह पूर्व, पश्चिम, प्राचीन, नवीन सभी ढंग के लोगों का मत है। इस गुण के रहने से आलोचक अवश्य गुण-ग्राहक होगा और उसके सभी कामों में जीवन रहेगा।

समालोचना का प्राण समझ लेने पर भी एक दोष से बचने की आवश्यकता है। वह है मर्मस्थल का ज्ञान। यद्यपि सरस भावक

मर्मों का भावन सहज ही कर लेता है तथापि विधि और अनुवाद यह भ्रम पाया जाता है कि आलोचक ऐसी बातों की आलोचना करते हैं जिनकी आलोचना होनी ही न चाहिए। इसका कारण होता है उनका प्रधान-गौण का भेद न करना। भारत की मीमांसा-शास्त्र की 'आलोचना-पद्धति' अपूर्व है। उसमें विधि और अर्थवाद का बड़ा सुंदर भेद किया गया है। विधि कहते हैं प्रधान

* इस श्लोक में अर्थ के साथ ही शब्द का भी चमत्कार है। 'साक्षरा' शब्द को उलटने से राक्षस बनता है पर सरस को उलटने से सरस ही बनता है।

कथन के और अर्थवाद कहते हैं उसके साथ लगे हुए तथ्यों के । यह अर्थवाद कई प्रकार का होता है । किसी भी विषय के प्रतिपादन में हम अपनी बात कहने के साथ ही बहुत-सी बातें—दूसरों की मानी जातें—चुपचाप कह जाते हैं । ऐसी गृहीत बातों का वर्णन अर्थवा कथन अनुवाद कहलाता है । जैसे गीता में लिखा है—

खियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।

खी, वैश्य और शूद्र भी परागति और मोक्ष के पाते हैं । अब हमारे आलोचक कहते हैं कि गीताकार खी, वैश्य आदि को हीन अधिकारी समझते थे पर यह कथन बुद्धियुक्त नहीं है । उस समय के कुछ लोगों का ऐसा मत था जिसका अनुवाद गीताकार ने किया और फिर अपना मत दिया कि नहीं सब उस लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं ।

इसी प्रकार ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में से एक एक पंक्ति लेकर लोग प्रमाण उपस्थित करते हैं, नई खोज करते हैं पर वे यह भूल जाते हैं कि उस पूरे सूक्त में वर्णन है एक परमात्मा का । यदि आलोचक विधि का ज्ञान रखता है तो वह अवश्य ही उस सूक्त की भिन्न भिन्न बातों में एकता का अर्थ देख लेता है । उसी प्रकार तुलसी-कृत रामायण की व्याख्या करते समय राम के लोक-संग्रह को प्राधान्य देने का अर्थ है कि तुलसीदासजी का प्रधान लक्ष्य था लोक-संग्रह । पर कवि और भक्त तुलसी का लक्ष्य था काव्य और भक्ति का रसास्वादन । अतः लोक-संग्रह की भावना उनके महाकाव्य में है, पर वही सर्वप्रधान भावना नहीं है । इस प्रकार के विधि-विवेक से अध्ययन बड़ा युक्त और सुंदर हो जाता है ।

शूद्र गँवार ढोल पशु नारी ।

ये सब ताड़न के अधिकारी ॥

वहाँ भी कवि ने अपने समय के विचार का अनुवाद मात्र किया है । इसे कवि का विचार मानकर कवि के मत्थे दोष मढ़ना बड़ा अनर्थकारी होता है । साथ ही यहाँ ‘ताड़न’ शब्द में बड़ा चमत्कार है । उसमें नीति, व्यवहार, कला और काम-शास्त्र आदि सभी का हलका पुट है । उसे समझ लेने से तो तनिक भी भ्रम नहीं रह जाता ।

प्रधान कथन और गैण-विवेचन का भेद न रखने से अध्ययन और आलोचन में बड़ा दोष आ जाता है। यदि ऐसी विवेक-दृष्टि से देखा जाय तो तुलसीदासजी के ऊपर की गई सभी शंकाएँ दूर हो जाती हैं। अतः मीमांसा के विधि और अर्थवाद (अनुवाद, गुणवाद आदि) का व्यापक अर्थ करके उनका समालोचना में भी उपयोग हो सकता है और होना चाहिए।

अब अंत में एक दोष रह गया जो आधुनिक आलोचकों के बहुत खलता है। वह है रुढ़ि का आग्रह। मूल्य-निर्णय करनेवाले सदा रुढ़ि की पहचान कुछ रुढ़ि नियमों और आदर्शों को हाथ में लेकर कला के अच्छा-बुरा ठहराते हैं। इसी से लोगों को रुढ़ि से चिढ़ हो जाती है। प्रायः अधिक कवि और रसिक रुढ़ि की निन्दा करते मिलते हैं। पर तत्त्व की बात यह है कि न तो रुढ़ि का अति संग्रह ही अच्छा है और न उनका सर्वथा त्याग ही उपकारक होगा। अतः मध्य मार्ग से चलना चाहिए, परंपरा-प्राप्त रुढ़ि में जो भाव भरा है उसे पहचानकर चलना चाहिए। ‘संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने’ यदि कवि और आलोचक दोनों ही सरस होकर रुढ़ि के प्राण के पहचानकर काम करें तो कभी कोई अनिष्ट न हो। इसी से तो कहा जाता है कि रचयिता और आलोचक दोनों का ही सबसे बड़ा गुण है सरसता।

कला और काव्य के क्षेत्र में लोग हँसते हुए कह देते हैं ‘निरंकुशः कवयः’; ‘सर्वमात्मवशं सुखम्’। कवि और कलाकार किसी का अंकुश रुढ़ि-त्याग से हानि नहीं मानते। सुख तो स्वाधीनता में है। अतः रुढ़ि के बंधनों से मुक्त होकर स्वच्छंद विचरने में ही कला की सफलता और रस की पराकाष्ठा होती है। पर इस स्वच्छंदवाद से आज यूरोप में बड़ा गड़बड़ मचा हुआ है। प्रत्येक कलाकार और कवि अपने सिद्धांत, लक्ष्य, नियम आदि की व्याख्या करता है और यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके आलोचक उसके लिये शास्त्र वैयार करते हैं। इस प्रकार व्याख्या और सिद्धांत प्रतिपादन की अन्वा-

वश्यक वृद्धि हुई है और आवश्यकता से अधिक वाद चल पड़े हैं। अतः इन अनुभवों से भी हमें लाभ उठाकर रूढित्याग की महा भूल कभी न करनी चाहिए। हाँ, अबने साहित्य मंदिर का पुनरुद्धार और परिष्कार अवश्य करते रहना चाहिए।

रूढ़ि के समान ही वाद भी समझदार के लिए उपकारक होते हैं पर उन्हीं वादों से अविवेकी का गला घुट जाता है। अतः समालोचना में रूढ़ि और वाद तो वाद की गंध भी न आनी चाहिए। वाद विज्ञान और दर्शन में ही शोभा पाते हैं।

इस प्रकार आलोचना की प्रक्रिया तथा उसके आवश्यक गुण-दोषों का विवेचन हो चुकने पर आलोचना के इतिहास की जिज्ञासा होती है। आज हिंदी को पूर्व और पश्चिम दोनों के समालोचना-शास्त्र देखकर अपना शास्त्र बनाना है। अतः संक्षेप में दोनों प्रकार की समालोचना-पद्धतियों का इतिहास हमें जानना चाहिए।

पश्चिम का सबसे पहला साहित्याचायं है, प्लेटो। उसने साहित्य का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन किया था। इस प्रकार ईसा से कोई

पश्चिमी आलोचना तीन शताब्दी पूर्व ही यूनान में साहित्य और का इतिहास काव्य का व्यवस्थित अध्ययन प्रारंभ हो गया

था। प्लेटो का शिष्य अरस्तू ने उस साहित्यालोचन के आगे बढ़ाया। प्लेटो के 'पिपिलिक' नामक ग्रंथ का एक अंग था साहित्य का आलोचन तथा विवेचन, पर अरस्तू ने तो इस विषय पर एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा था। इन दोनों दिग्गज आचार्यों कं पीछे फिर केवल टीका-टिप्पणी करनेवाले आलोचक हुए जिन्होंने उन्हीं स्थिर सिद्धांतों पर ही कुछ लिखा पढ़ा। ईसा की तीसरी शताब्दी में लॉङ्जीनस (Longinus) नाम का एक अच्छा विवेचक हुआ जिसने "दीसब्लाइम" नामक प्रसिद्ध प्रबंध लिखा है, पर उसने भी कदाचित् प्लेटो और अरस्तू के काव्य तथा कला-संबंधी विचारों के इतने व्यापक और बड़े रूप में नहीं देखा। अर्थात् पश्चिम की आलोचना का प्राचीन रूप सार-रूप से इन्हीं दो विद्वानों के लेखों में मिल

जाता है। अतः आधुनिक काल प्रारंभ करने के पहले प्लेटो और अरस्तू के विचार कम से कम सूत्र-रूप में अवश्य जान लेने चाहिए।

प्लेटो ने कला और सत्य का घनिष्ठ संबंध माना है। और सत्य भी आधुनिक कवि-सत्य अथवा आदर्श सत्य के अर्थ में ही प्रत्युत अपने सभी रूपों में कला का लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार सत्य से सदाचार और नीति का अर्थ लेकर प्लेटो ने कहा कि कलाकार अथवा कवि को सत्पुरुष होना चाहिए। कला के सत् अथवा असत् होने से समाज अच्छा अथवा बुरा होता है। अतः प्लेटो का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह हुआ कि कला अथवा काव्य की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि उसके द्वारा जो कुछ प्रतिपादित अथवा अभिव्यक्त हुआ है वह यथार्थ है—अपने आधारभूत प्राकृतिक सत्य से मेल खाता है। अर्थात् काव्य का अर्थ लौकिक अर्थे का प्रतिरूप होना चाहिए, दोनों में तात्त्विक विरोध न होना चाहिए।

इस प्रकार प्लेटो ने यथार्थवाद पर जोर दिया पर उनकी समालोचना-पद्धति आदर्शवादी कही जाती है; क्योंकि वे सत्य के निश्चित आदर्श सामने रखकर कला और काव्य की परीक्षा करते थे। इसी से प्लेटो आदर्शवादी ही प्रसिद्ध हैं।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने यथार्थवादी प्रणाली को अपनाया, उनके सामने जो साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत थी उसको आधार बनाकर साहित्य की विवेचना की। इन्हीं ने वास्तव में काव्य को ललित कला माना। जहाँ प्लेटो ने काव्य को सत्य की 'प्रिमा' माना था, अरस्तू ने उसे 'अनुकृति' माना और कला तथा विज्ञान का भेद बताकर काव्य-साहित्य और सामान्य साहित्य का भेद किया। अरस्तू ने कहा कि काव्य-साहित्य में विशेष घटनाओं अथवा स्थूल सत्यों का ही नहीं, प्रत्युत सामान्य घटनाओं और सूक्ष्म सत्यों का भी प्रतिपादन होता है। इस प्रकार अरस्तू ने वही बात कही जो आधुनिक आलोचक के इस कथन में है कि आदर्शीकरण कलाकार के चित्र की अनेकता प्रक्रिया है। इसवादियों के साधारणीकरण की भी यहाँ एक भलक मिल सकती है।

पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि आदर्शीकरण और साधारणीकरण-वाले आत्मपक्ष को प्राधान्य देते हैं पर अरस्तू ने विषय (Object) और कथावस्तु को ही प्रधान माना है। यद्यपि वे मानते थे कि अनुकारक (कवि) की प्रस्तुत की हुई अनुकृति और अनुकार्य (Thing imitated) की समानता का अनुभव ही काव्यानंद है तथापि वे काव्य की आत्मा वस्तु (Plot) को ही मानते थे। इसी से उन्होंने सुषमा (Symmetry) पर साहित्य-समालोचन में अधिक जोर दिया है। ऐटो ने पूर्ण सत्य को काव्य की कसौटी माना था पर अरस्तू ने रूप-विधान की पूर्णता अथवा सुषमा को कलात्मक गुण की परख ठहराया। आधुनिक आलोचना का प्रारंभ अरस्तू के इसी सुषमावाद अथवा रीतिवाद से हुआ; क्योंकि अरस्तू ने वस्तु, चरित्र, भाव और भाषा आदि के शास्त्रीय नियम बनाकर पथ-प्रदर्शन करा दिया था।

अर्वाचीन काल में एडीसन ने आलोचना के क्षेत्र में कल्पना का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि कल्पना पर प्रभाव डालने की शक्ति ही काव्य तथा कला का प्राण है। उन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर कल्पना और कल्पना के सुख का वर्णन किया। इस प्रकार इस काल में सत्य, सुषमा और कल्पना के आधार पर आलोचना के तीन तत्त्व स्थिर हुए—(१) वस्तु, (२) रीति, (३) सुखानुभव कराने की योग्यता। कल्पना और सुखानुभववाला तत्त्व ही आधुनिक आलोचना की विशेषता है। पीछे चलकर इसी कल्पना का स्वरूप-निर्णय कई आलोचकों ने किया, पर कल्पना का प्रभुत्व सभी ने स्वीकार किया है।

इसके अनंतर मेध्यू आरनाल्ड, वर्सफॉल्ड, अबरक्रांबी, रिचर्ड्स आदि की कृति का विवेचन करने से आधुनिक समालोचना का रूप खड़ा हो सकता है, पर यहाँ हम स्थानाभाव से इतना ही कहेंगे कि समालोचना के प्रधान तत्त्व तो ये तीन ही हैं। और इन्हीं के आधार पर किसी भी रचना की आलोचना की जाती है, पर ध्यान देने की बात यह है कि आजकल रूढ़ नियमों की अपेक्षा व्यापक सिद्धांतों का समालोचना का आधार बनाया जाता है। समालोचना के बंधन कम हो गए हैं और

व्यक्ति-वैचित्र्य तथा निजी रुचि का भी समुचित विचार किया जाता है। एक ही कृति किसी सहृदय के प्रिय होती है और किसी दूसरे के अप्रिय।

जिस प्रकार संक्षेप में हमने पश्चिमी समालोचना की चर्चा मात्र की है उस प्रकार भी हम भारतीय आलोचना की चर्चा नहीं भारतीय सिद्धांत कर सकते क्योंकि यहाँ तो केवल दो हजार वर्ष तक वरावर इसका विकास और वर्धन होता रहा है। जो सिद्धांत पश्चिम में स्पष्ट रूप से आज बने हैं वे हमारे भारत में 'काव्य-प्रकाश' और 'ध्वन्यालोक' के समय में ही बन चुके थे। आज का निर्णय है कि मैटर (matter = वस्तु), मैनर (manner = रीति) और आइडियलाइजेशन (idealisation = आदर्शीकरण) इन्हीं तीन तत्त्वों का आधार लेकर काव्यालोचन किया जाता है। भारत के साहित्य-शास्त्र का सिद्धांत क्या है? अर्थ, शब्द और रस—इन्हीं तीन की दृष्टि से काव्य परखना चाहिए। तीनों की क्रम से तुलना करने से काई बङ्डा भेद नहीं देख पड़ता। आयडियलाइजेशन (आदर्शीकरण) वाली बात को लोग पश्चिमी साहित्य-शास्त्र की उपज बताते हैं, पर विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि रस के प्रतिपादन में आचार्यों ने इससे भी अधिक बातें कह दी हैं। यदि कल्पना पर विचार करें तो हमारे यहाँ भी कल्पना का विवेचन हुआ है, पर प्रतिभा के नाम पर। प्रतिभा के हमारे आचार्यों ने दो भेद किए हैं—कार्यित्री और भावयित्री। इसी प्रकार जो रुचि और सामान्य भावना (General Sense) की विशेषता बताई जाती है वह भी हमारे यहाँ है। कुछ लोग मैथ्यू आरनाल्ड की जीवन से संबंधवाली बात को आधुनिक आलोचना की बड़ी विशेषता बतलाते हैं, पर हमारे यहाँ भी तो इसे स्वीकार करके ही कहा है कि काव्य का प्राण है पुरुषार्थ। इसी का अतिरिक्त और दुरुपयोग होने से धर्मशास्त्र, और अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि पढ़कर काव्य की रचना होने लगी थी। एक और बहुत बड़ी विशेषता आधुनिक आलोचना की यह है कि वे नियमों की अपेक्षा सिद्धांतों का अधिक मान करते हैं। भारत में भी यही बात थी। वे तो

सदा कहा करते थे कि लक्षण और नियम बनानेवाले विद्वान् अनुशासन करते हैं, उन्हें कभी भी कठोर शासक नहीं बनना चाहिए और लक्षण भी देश और काल के अनुसार बदला करते हैं क्योंकि 'उत्तरोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम्'। उत्तरोत्तर आनेवाले मुनियों में पहले से दूसरे का प्रामाण्य माना जाता है। यदि दूसरा मनन करनेवाला शिष्य गुरु के नियमों को धटाता बढ़ाता है तो वही संस्कृत और संशोधित नियम ही आंग चलता है। इस प्रकार हमारे यहाँ भी नियम की अपेक्षा सिद्धांत का ही आदर अधिक होता है।

इस प्रकार हम इस बात का दिग्दर्शन कर सकते हैं कि आधुनिक आलोचना और भारत की प्राचीन आलोचना के समन्वय हो सकता है; दोनों में समन्वय क्या, अभेद देखने का यन्त्र करना और भी ठीक-होगा। आजकल प्राचीन आलोचना से यूनान और रोम की रूप प्रधान आलोचना का अर्थ लिया जाता है। इससे प्रायः अनेक विद्यार्थी भारत की आज्ञाचना-पद्धति को भी प्राचीन आलोचना के नाम पर अपूर्ण और अयुक्त समझ बैठते हैं। यदि वे अलंकार, रीति, गुण, रस, धनि आदि के आलोचना-अंथों के पढ़ें तो उन्हें स्पष्ट विदित हो जाय कि यहाँ साहित्य का कितना अध्ययन हुआ था।

बड़ा अच्छा होता यदि यहाँ हम भामह के काल से लेकर आज तक के साहित्यशास्त्र की रूप-रेखा खींच सकते पर यह तो एक ग्रंथ का विषय * है। अतः हम यहाँ केवल यह दिखा देना चाहते हैं कि हमारे यहाँ सिद्धांत और व्यवहार दोनों के ही पर्याप्त उदाहरण मिल सकते हैं। जिन चार प्रकार की आधुनिक आलोचनाओं का उदाहरण दे आए हैं उनमें से सिद्धांत के बारे में तो भारत प्रसिद्ध ही है। साधारण विद्यार्थी भी (भामह के) काव्यालंकार, (दण्डी के) काव्यादर्श, (ममट के) काव्यप्रकाश, (आनन्दवर्धन के) ध्वन्यालोक, (विश्वनाथ के) साहित्य-दर्पण, राजशेखर के (काव्यमीमांसा) आदि

*देखिए De's Sanskrit Poetics, Kane's Introduction to Sahitya Darpana इत्यादि।

के नाम बता देता है। ऐतिहासिक तो जानता है कि साहित्य सिद्धांत-संबंधी ग्रंथों का स्वयं एक बड़ा साहित्य है और उसकी परंपरा भी चली आई है। आज हमारा कर्तव्य इतना ही है कि हम उन ग्रंथों को ठीक ठीक समझें और उनका युगानुरूप प्रयोग करें।

इसी प्रकार निर्णयात्मक समालोचना के उदाहरण टीकाओं और व्याख्यानों में भरे पड़े हैं। व्याख्यात्मक आलोचनाएँ भी हमारे यहाँ बहुत हुई हैं। वृत्ति, भाष्य आदि और ही ही क्या? अब रही स्वतंत्र आलोचना की बात। यह भी हमारी थी, पर दूसरे रूप में थी। इसका अधिक प्रयोग शास्त्रों में हुआ करता था। शास्त्र का निर्माण हो चुकने पर कोई वृत्ति लिखता था और कोई उन पर स्वतंत्र प्रबंध लिखता था। साहित्य और काव्य के क्षेत्र में ऐसी आलोचना प्रायः नहीं होती थी। क्षेमेन्द्र जैसे लेखक फुटकल टिप्पणियाँ लिख दिया करते थे; जैसे—भासो भासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः इत्यादि।

इस प्रकार आलोचना-भरी स्वतंत्र उक्तियाँ भारतीय साहित्य में अभी तक खूब चलती हैं। उदाहरणार्थ—

१. उपमा कालिदासस्य भारवेरथगौरवम् ।

दण्डिनः पदलालित्यं मावे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

२. वाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम् ।

३. कविता रही सो कविरा कहिगा, सूरै कही अनूठी ।

रही सही कठमलिया कहिगा, और कही सब जूठी ॥

इतना पढ़ चुकने पर तो किसी को संदेह नहीं हो सकता कि हमारे यहाँ आलोचना की व्यवस्था नहीं थी। संस्कृत के विद्वान् वाङ्मय के दो भेद करते हैं—(१) काव्य और (२) शास्त्र। आलोचना शास्त्र मानी जाती है। इसी से आलोचना के अन्य अनेक प्रकारों को जानना हो तो हमें शास्त्र-निर्देशः के समान प्रकरणों पर विचार करना चाहिए।

*देखो काव्यमीमांसा, पृ० ५

वहाँ सूत्र, वृत्ति, टीका, भाष्य, समीक्षा, विवेचना, वार्तिक आदि सभी का विचार मिलता है। हम यहाँ केवल वार्तिक की परिभाषा देते हैं जिसमें आलोचना का कितना सुंदर आदर्श मिलता है—

उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम् ।

वार्तिक में उक्त बातों का मूल्य-निर्धारण; अनुकूल बातों का निर्देश तथा दुरुकूल बातों की विवेचना आदि सभी कुछ रहता है। यदि वार्तिक के ढंग की आलोचनाएँ हमारे साहित्य में निकलने लगें तो समालोचना का सोना चमक उठे और साहित्य दिन-दूना समृद्ध होने लगे।

वास्तव में आलोचना के इतिहास में नई बातें नहीं मिलतीं। हाँ, नया प्रतिपादन मिलता है। तत्त्व तो प्रायः एक ही रहते हैं। भारत के अनेक

दोनों का समन्वय वादों का यदि सहृदय होकर समन्वय करें तो सभी भूतों में कुछ न कुछ सत्य मिलता है। इसी से तो मम्मट जैसे आचार्य ने अलंकार, गुण, रीति, रस आदि का समन्वय करके एक प्रणाली बनाई है।

यदि पश्चिम के विशद साहित्यशास्त्र को पढ़कर उसे हम अपनी प्रणाली से मिलावें तो कोई भी कठिनाई नहीं आती। हम पीछे ऐसा करके देख ही चुके हैं। हमें केवल एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम सरस और सजीव होकर काम करें, कभी रुद्धि के पीछे प्राण निष्ठावर न करें। इसी प्रकार के समन्वय से हिंदी समालोचना बढ़ेगी।

हिंदी आलोचना के अभी तक चार रूप रहे हैं—(१) इतिहास, (२) तुलना, (३) भूमिका और (४) परिचय। साहित्य के इतिहास लिखे गये हैं, कई कवियों का तुलनात्मक आलोचन हुआ है, प्राचीन तथा नवाओं ग्रंथों की भूमिकाएँ लिखी गई हैं और नित्य प्रति

पत्र-पत्रिकाओं में परिचय के रूप में बहुत-सी वर्तमान स्थिति छोटी मोटी आलोचनाएँ निकला करती हैं पर

अभी दो बहुत आवश्यक अंग अछूते से पड़े हैं—

(१) कवि की सांगोषांग आलोचना।

(२) आलोचना-शास्त्र का स्थिर रूप।

इन दोनों क्षेत्रों में यत्र हो रहा है पर अभी विशेष उल्लेख योग्य कार्य नहीं हुआ है।

अंत में हम यही कहना चाहते हैं कि पुस्तकों के महत्त्व और उपयोगिता आदि का निर्णय करना बहुत ही कठिन है। किसी पदार्थ

उपसंहार को देखकर उसका वास्तविक स्वरूप समझना केवल कठिन ही नहीं, प्रायः असंभव भी है। हम

तो अपनी योग्यता, संस्कार और रुचि आदि के अनुसार ही उसका स्वरूप समझेंगे। साहित्य के महत्त्व का निर्णय करने के लिए चाहे हम कितने ही निष्पक्ष क्यों न बन जायें; पर हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य की सृष्टि सदा व्यक्तियों से होती है; और उसमें जो कुछ कहा जाता है, वह भी व्यक्तियों के उद्देश से ही। उसमें अनेक विषयों पर अनेक प्रकार से विचार होता है। उससे लोगों में उत्तेजना भी फैलती है, सहानुभूति भी उत्पन्न होती है, मनोराग भी उत्पन्न होते हैं और इसी प्रकार की और न जाने कितनी ही बातें होती हैं। साहित्य का प्रभाव बहुत कुछ रुचि पर ही अवलंबित रहता है; और इसी लिये सब कठिनाइयों को पार करने के उपरांत भी यहाँ आकर साहित्य की विवेचना करनेवाले को हार माननी पड़ती है। आलोचना से हम व्यक्तित्व और रुचि-वैचिच्य को कभी अलग नहीं कर सकते। हमें मानना पड़ता है कि इसमें मतभेद का होना सर्वथा अनिवार्य है। इससे किसी का दुखी नहीं होना चाहिए, बल्कि यह तो एक प्रकार से प्रसन्नता और संतोष की बात है। यदि रुचि की प्रधानता का प्रभ्र हमारे सामने आता है तो इस संबंध में शिक्षा और संयम आदि की सहायता से हम अपनी रुचि में भी बहुत कुछ सुधार करके उसे संस्कृत कर सकते हैं। यदि हम साहित्य के अध्ययन से पूरा पूरा लाभ उठाना और आनंद आप करना चाहें, तो हमें विद्वानों के दिखलाए हुए मार्ग पर आप से आप चलने का उद्योग करना चाहिए। बिलकुल दूसरों के भरोसे न तो कभी कोई काम हो सकता है और न होना ही चाहिए।

unfortunate with the up-to-date methods of the day.
The author's personal knowledge of the subject is limited to his own researches, and he has not been able to consult any other authority. He has, however, tried to make his book as accurate as possible, and to give it a wide range of interest. The author's aim has been to present the history of the development of the art of bookbinding in a way that will be of interest to all who are interested in the history of the book. The author's knowledge of the subject is limited to his own researches, and he has not been able to consult any other authority. He has, however, tried to make his book as accurate as possible, and to give it a wide range of interest. The author's aim has been to present the history of the development of the art of bookbinding in a way that will be of interest to all who are interested in the history of the book.

परिशिष्ट—१

हिंदी साहित्यशास्त्र के कठिपय पारिभाषिक शब्द

अध्यात्म—	from the individual point of view.	gistering (specially)
अनुकरण—	imitation, making after.	conventional ges- tures employed in the dramatic dance.
अनुकारक—	imitator.	अभिव्यंजना—expression- (in a technical sense).
अनुकृति—	देखो अनुकरण.	अभिव्यंजनावाद expression- ism (of Croce)
अनुभाव—	physical stimuli to aesthetic reproduction.	अभिव्यक्ति—suggestion, manifestation.
अनुभूति—	experience.	अभ्यास—practice, training
अनुमान—	inference; deduction,	अर्थ—meaning, end, in- terest, use, advan-
अनुरूप—	like the model, true to nature, analogous.	tage, motive, value, determination.
अपरोक्ष—	not indirect, not symbolic, immediate.	अलौकिक—not belonging to contingent world, super-sensual.
अभिधा—	denotation, reference.	आगम—scripture.
अभिधानयथ—	reference book	आचार्य—a master, one expert in his art.
अभिनय—	aesthetic apparatus, means of re-	आत्मप्रधान—subjective.

आत्माभिव्यंजन—self-expression.

आदर्श—ideal.

आदर्शीकरण—idealisation,

आधिदैवत—from the angelic point of view.

आधिदैविक—relating to angels divine, supernatural.

आनंद—aesthetic pleasure, bliss

आनंदचिन्मय—compounded of delight and reason, characterising (रसास्वादन) aesthetic experience.

आनंदोद्रेक की योग्यता—capacity to produce pleasure.

आभास—semblance, reflection

आलेख्य—painting.

आलोचन—critical study

आलोचना—criticism.

आस्वाद—tasting of रस—aesthetic experience.

उपचार—metaphor

ऊर्जस्वलीकरण } —sublimation
ऊर्जितीकरण } of

कर्तृप्रधान—देखो आत्मप्रधान
कर्मप्रधान—objective.

कला—art.

कल्पना—imagination

कवि—poet, artist (by extension)

कविता—poetry

क्लौटी—test

कारयित्री—creative.

काव्य—literature (pure)

Poetry (Prose or verse), literature as distinct from श्रुति etc. (by extension it means art)

काव्यरीति—technique of poetry.

कौतूहल—interest in a work of art.

गदा—prose

गमन—motion

मुण—any specific merit in a work of art, art a quality or factor in the phenomenal world.

प्रहण—understanding of anything.

प्राहक—appreciator.	दिव्य—angelic.
ग्राह्य—able to be comprehended.	दृश्य—visible, the phenomenal word.
चमत्कार—amazement.	दैवत—देखो दिव्य
चित्तवृत्ति—fluctuations of the mind, fugitive emotions and creature images.	धर्म—conduct, morality, principle.
चित्र—representative art, picture.	ध्यान—undistracted attention.
चित्रकाव्य—pictorial or illustrative poetry.	ध्वनन—echoing, synonym of व्यंजना.
चित्रगत—represented in a work of art.	ध्वनि—sound, sounding, overtone of meaning, resonance of sense-content (as distinguished from intent.)
चित्राभास—semblance of art.	नाम—name, idea.
चेतना—life.	नाम-रूप—name and aspect words and images.
छंद—rhythm, metre.	निवंध—essay.
जाच—देखो कसौटी.	नियम—rule.
दंग—manner. देखो रीति	निर्णयात्मक—judicial.
तत्त्व निरूपिका—देखो सिद्धांतात्मक.	परख—test.
तात्पर्यार्थ—meaning or significance of the whole phrase or work of art, as distinct from that of its separate parts or elements.	परनिवृत्ति—aesthetic setisfaction.
	परीक्षा—experiment.
	परीक्षा करना—(to) experiment.
	प्रज्ञा—pure intellect.

प्रतिकृति—portrait.

प्रतीक—symbol.

प्रतीति—clear institution,
manifestation (of रस).

प्रमाता—Judge, critic.

प्रतिविंश—representation;

प्रतिभा—vision, imagination,
poetic faculty.

प्रमाण—æ sthetic stand-
ard.

प्रयोजन—purpose, intent.

प्राण—life-breath, spirit.

प्रातिभाब—intuition (intui-
tional knowledge).

विंश—Model, subject, pre-
sentation, semblance
(as contrasted with
प्रतिविंश, representations,
resemblance).

बुद्धि—देखो प्रज्ञा.

भाव—nature, emotion,
sentiment of mood
as represented in a
work of art, the
vehicle of रस

भावना—origination, im-
agination emotional,
impression, surviv-

ing in conscious or
unconscious memory.

भावक—critic (an expert
student of art and
poetry).

भावुक—a man of feelings.
(a mature appreciator
of art and poetry.)

भोग—physical experience
and enjoyment (in-
sanskrit it means
physical experience
and æsthetic apprecia-
tion both).

मन—mind.

मनोहर—delighting to mind
or heart.

मान—measure.

मूर्ति—material, formal.

मूर्ति—form, image.

मूल्य—value.

मूल्यनिर्धारण—evaluation.

रमणीयता—beauty (from
subjective point of
view.)

रस—experience, know-
able only in the acti-

vity of tasting (रस-	विषयप्रधान—देखो कर्मप्रधान.
स्वादन)	वैदग्ध—skill.
रसास्वादन—tasting of रस	व्यंजना—suggestive power
aesthetic enjoyment.	of an expression.
रसिक—a man of enjoy-	व्यवस्थित—systematic
ment.	व्यावहारिक—worldly, em-
रीति—style, diction,	pirical, sensational.
manner.	व्युत्पत्ति—scholarship.
रुद—देखो मूर्त.	शक्ति—power, genius,
रूपसंवंधी—देखो मूर्त.	talent.
लक्षण—connotation.	शास्त्रीय—देखो मूर्त
लावण्य—salt, charm	संवेदनीय—communicable,
लीला—play, unmotivated	सत्य का प्रतिपादन—represen-
manifestation.	tation of truth.
लेख—writing.	समालोचना—criticism.
लोक—world, sphere, uni-	सहृदय—having a heart,
verse, the conditioned	imaginatively or
ed world including	spiritually gifted,
heaven in part.	साधारण्य—ideal sympathy
लोकोत्तर—super-sensual	(having a common
(not supernatural,	support)
same as अलौकिक)	साधारणीकरण—ditto.
वस्तु—object, plot.	साहित्य—literature.
चाक्य—word or expres-	सिद्धांत—principle.
sion.	सिद्धांतात्मक—speculative,
विभाव—physical stimulant	सुखात्मक भाव—pleasure.
to aesthetic repro-	सुषमा—symmetry.
duction.	

सौंदर्य—beauty (from objective point of view)
स्थायी भाव—permanent mood.

हृदय—heart, the entire being, sensible and intelligent

परिशिष्ट २

उन ग्रंथों की सूची जिनके अध्ययन से आलोचना-शास्त्र के मिज्ज़ा भिज्ज़ अंगों और उपांगों का विशेष ज्ञान प्राप्त हो सकता है और जिनमें से अनेक ग्रंथों से साहित्यालोचन के निर्माण में सहायता ली गई है।

Abercrombie, L.—The idea of great poetry : The theory of poetry: An introduction to the principles of criticism.

Addision—Spectator.

Albright, E. M.—The short story.

Aristotle—The poetics (by S. H. Butcher).

Archer, Willam—Play-making.

Arnold, Matthew—Essays in criticism.

Arnold, Thomas—Manual of English Literature.

Bain, A.—English composition and rhetoric.

Baker, G. P.—Dramatic technique.

Baker, H. T.—The contemporary short story.

Becker, K. F.—On style and diction.

Besant, Sir Walter—The art of fiction.

Bett, Henry—Some secrets of style.

Blunden, Edmund—Nature in english literature..

Brown, G. B.—The fine arts.

Butcher, Prof. S. H.—Aristotle's theory of poetry and fine arts.

Coan, T. M.—Critic and artist.

Coleridge, S. T.—Literary remains.

Colvin, S.—Fine arts (Ency. Brit. 9th Ed.)

Coomarswamy, A. K,—Transformation of nature in art.

- Cotterill, H. B.—An introduction to the study of poetry.
- Cousin, Victor—The true, the beautiful and the good.
- Cowl, Prof. R. P.—Theory of poetry in England.
- Crawshaw, W. H.—The interpretation of literature.
- Croce, Benedetto—Aesthetics.
- Dallas, E. S.—Poetics : An essay of poetry.
- De, S. K.—History of Sanskrit poetics.
- Dewey, J.—Psychology.
- Daibes, D.—New literary values.
- Dukes, A.—Drama.
- Eastman, M.—The literary mind.
- Eliot, T. S.—Selected Essays.
- Encycl, Brit.—Aesthetics (8th Ed.)
- Forster, E. M.—Aspects of the novel.
- Gayley, C. M. & Scott, F. M.—Methods and materials. of literary criticism.
- Genning, J. T.—The evolution of figures of speech.
- Grabo, C. H.—The technique of the novel.
- Gummere, F. B. —A hand book of poetics.
- Hegel, G. W. F.—Introduction to the philosophy of fine art.
- Henderson—Novel today.
- Hudson, W. H.—An Introduction to the study of Literature.
- Hunt, T. W.—Studies in Literature & style.
- Kane—Introduction to Sahitya Darpana.
- Keith, A. B.—Sanskrit Drama : The Ved Akhyana and the Indian Drama (J. R. A. S. 1911).
- Kellett, E. E.—Fashion in literature.
- Knight, W.—studies in philosophy & literature.
- Lamborn, E. A. G.— Poetic values : Rudiments of criticism.
- Lessing, G. E.—Laocoön.

- Lewisohn, L.—Modern book of criticism.
- Lubbock, P.—The craft of fiction.
- Macdonell, A.—Sanskrit literature.
- Maier, N. R. F. & Reninger H. W.—Psychological approach to literary criticism.
- Mathews, B.—Study of the drama.
- Minto, W.—Manual of English prose literature.
- Monier-Williams, Sir M.—Indian Epic Poetry.
- Montague, C. E.—Dramatic values.
- Morle—The study of the modern novel.
- Moultion, R. G.—Modern study of literature : Shakespeare as a dramatic artist.
- Muir, E.—The Structure of novel.
- Murry, J. M.—Problem of style.
- Nicoll, A.—The theory of Drama, the development of the Theatre.
- Pain, B.—Short stories.
- Pater, W.—(Essay on) Style.
- Plato—The Republic.
- Pope, A.—Essay on criticism.
- Powell, A. E.—Romantic theory of poetry.
- Raleigh, W.—Style.
- Raymond, Prof. G. L.—Poetry as representative art.
- Ready, A. W.—Essays writing.
- Richards, I. A.—Principles of literary criticism.
- Ridgeway, W.—Dramas and dramatic dances of non European races.
- Rose, W. and Issacs, J.—Contemporary movements in European Literature.
- Saurat, D.—Literature and occult tradition.
- Saintsbury, G.—Loci Critici.
- Schelling, F. E.—The English Drama.
- Scott-James R. A.—The making of literature.

- Shastri. Harprasad—The Origin of Indian Drama
 (J. A. S. B. 1909)
- Spencer, H.—The philosophy of style.
- Walker, H.—English Essays and Essayists.
- Walpole H. & others—Tendencies of the modern novel.
- Ward, A. G.—Aspects of modern short story.
- Walter, P.—Essay on Style.
- Weber, A.—History of Indian Literature.
- Warton, E.—The writing of fiction.
- Wilson, H. H.—Hindoo Dramatic Literature.
- Woolf, V.—Phases of fiction.
- Worsold, W. B.—Principles of criticism : Judgment in literature.

आनंदवर्धन	— ध्वन्यालोक
जगदेव	— चंद्रालोक
दंडी	— काव्यादर्श
धनंजय	— उशरूपक
पंडितराज जगन्नाथ	— २ संगगाधर
भरत मुनि	— नाट्यशास्त्र
ममटाचार्य	— काव्यप्रकाश
राजानक रस्यक	— अलंकारसर्वस्व
राजशेखर	— काव्यालंकार
विश्वनाथ महापात्र	— साहित्यदर्पण
श्यामसुंदरदास	— रूपक-रहस्य

अनुक्रमणिका

- अ
- अंतःकरण की वृत्तियाँ २५०
 - बुद्धि २५३
 - अंतस्तल २४५
 - अंविकादत्त व्यास २४५
 - अध्ययन—
 - आनुपूर्व प्रणाली ५१, ८५
 - हुलनात्मक प्रणाली ६४, ८५
 - समयानुक्रमण और विकासक्रम ८४
 - समयानुक्रम प्रणाली ८५
 - अनुभव के भेद ८
 - अनुभूति और रूप का समन्वय २५
 - अनुमितिवाद २७४
 - अवरक्रांति ३६६
 - अभिधा ३११
 - अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद २७७
 - अभिनवगुप्ताचार्य २७६-२८१, २८७
 - अभिव्यञ्जना और कला ३, ४
 - का विकास ३
 - की विधियाँ ३
 - की शक्ति २, ३
 - अभिव्यञ्जना के साथन ३
 - अमानत १४१
 - अरस्तू ७६, ११८, १३३, १५६, ३६५-३६६
 - का सुषमावाद अथवा रीतिवाद ३३६
 - के काल में आलोचना की कस्टौटी ३६६
 - अर्थ-प्रकृति १६६
 - के भेद १६६
 - अलंकारों का स्थान ३१७
 - की संख्या ३१८, ३१९
 - अलौकिक ३५४
 - आ
 - आइडियलाइजेशन ३६७
 - आकाशभाषित १५३
 - आरब्यायिका २२१
 - आधुनिक—२३३
 - उपन्यास तथा अविकसित कक्षा के गर्भ से २२७
 - और उपदेश २२६
 - और गीति काव्य २२६
 - और निर्बंध २३५
 - और लोकसेवा २३०

- आख्यायिका कला का आविष्कारक २२७ आलोचक के आवश्यक गुण ३२७
—का आकार २२२ आलोचना” २३
—का आरंभिक उत्थान २२८
—का लक्ष्य २२४ श्रृंगरेजी और संस्कृत के अर्थ ३५४
आख्यायिका के उपकरण—उद्देश २२७ अस्पष्टता ३५६
वटना और पात्र २२८ आत्मप्रधान अथवा स्वतंत्र—
—के विकास की प्रौढ़ावस्था २२९ ३५८
—के सिद्धांत २३२ उपसंहार ३७१
नाटकीय आख्यान २२६ और उपयोगिता ३३१
—में अविश्वसनीय अंश २३३ और साहित्य वृद्धि ३३०
—में लेखक का व्यक्तित्व २२५ —का उद्देश ३२५
—में संकलन-त्रय २२८ —की ऐतिहासिक समीक्षा ३४६
रुसी २३१ —की वर्तमान गतिविधि ३४६
साहित्यिक २२१ —की वर्तमान स्थिति ३७०
आत्मभाव और अनात्मभाव का भेद —की वैज्ञानिक प्रक्रिया ३४६
३२, ३३ —के दो पक्ष, तुलना ३५०
आत्मा की वृत्तियाँ ३२ इतिहास ३५१
आत्मा और अनात्मा के गुण ३४ —के तीन तत्त्व ३६६
—के विषय ३४ —के प्रकार ३३६
आदर्शवाद १८७ —के प्रधान लक्ष्य ३५८
आदर्शोक्तरण २६० —के भारतीय सिद्धांत ३६७
आनंद के भेद ८ —के लिये विधातक दोष ३५४
प्राकृतिक और काव्यानंद—
लौकिक और अलौकिक—३६-३७ —के स्वरूप-निर्णय पर एक
आनंदवर्धन २८३-२८४, ३६८ दृष्टि ३४६
आर्नल्ड, मैथ्यू ७३, ११२, २४१, —गुणी और दोष ३५२
३४७, ३६७ तुलनात्मक—३४४
आर्थसमाज १६० निर्णयात्मक—३४६
पश्चिम के—ग्रंथ ३५२

आलोचना पश्चिमी—का इतिहास	उ
३६४	उपत्तिवाद २७३
पश्चिमी और भारतीय दोनों पद्धतियों का समन्वय ३७०	उदात्त वृत्तियों की सूष्टि ११
पारिभाषिक शब्दों का निर्णय ३४८	उपन्यास ११८, ११९, २२५, २३३,
मत-परिवर्तन ३३३	अंतरंग जीवन के—१८४
मीमांसा शास्त्र की—पद्धति ३६३	उद्देश २१४
यूनान और रोम की रूप-प्रधान—३६८	उर्दू के—१९०
रुद्धि और वाद ३६४	ऐतिहासिक—२११, २१२
—रुद्धि की पहचान ३६३	—और कविता का भेद १७६
रुद्धित्याग से हानि ३६३	—और छोटी कहानी या गल्फ
लक्ष्य की अनन्यता और अनासन्ति ३५८	१७८
विषय और मानदंड ३५७	—और जीवन-चरित १८०
व्याख्यात्मक—३४२	—और नाटक १३५
संस्कृत—पद्धति की विशेष-ताएँ ३५६	—और प्रेमकथा १८६
सामान्य-सिद्धांत-समीक्षा ३४०	—और रस २०७
साहित्यिक—३४७	—और सूफी कवि १८६
आल्हखंड ११६	—कथोपकथन २०५
इ	—की कथा कहने के ढंग १९८, २०२
इंद्रसभा १४१	—की कथावस्तु १८१
इंद्रियजनित भाव २६०, २६१, २६५	—की वस्तु के संबंध में विचारने वेष्य वाते २०२
इच्छाशक्ति ५	—के कोटिक्रम १८०
इच्छन १२५	—के तत्त्व १९२
इमरसन २४२, २४५	—के पात्र १८३
२५	—के भेद २०३

- उपन्यास—के भेद, वस्तुविन्यास के विचार से १९७
 गुजराती के—१९०
 —घटनाप्रधान—१८०
 चरित्र-चित्रण में सफलता के उपाय २०१-२०२
 जासूसी—१८२
 जीवन की व्याख्या २१६
 तिलस्मी—१८२
 देश और काल २१०
 देश-काल सापेक्ष और निरन्तर—१८५
 नाटक और—में भेद २०२
 पात्र १९९
 प्रेमाख्यानक कवि और—की परंपरा १८६
 बँगला के सामाजिक—१८८
 मराठी के—१९०
 —में अभिनयात्मक या परोक्ष चरित्र-चित्रण २०१
 —में चरित्र-चित्रण २०३
 —में नाट्यशास्त्र के विषयों का उपयोग २०२
 —में नीति २१९
 —में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन २१३, २१४
 में वास्तविकता २१८
 —में विश्लेषात्मक या साक्षात् उपन्यास—चरित्र-चित्रण २०१
 —में रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का प्रावल्य २०३
 —में सत्यता २१७
 रुसी—१९०
 वस्तु—१९३
 असंबद्ध या शिथिल कथात्मक १९८
 संबद्ध घटनात्मक—१९८
 —वस्तु और पात्र का संबंध २०३
 शैली—का पाँचवाँ तत्व १९२
 सामाजिक अथवा व्यवहार-संबंधी—१८२
 साहित्य में—का स्थान १७५
 हिंदी के—१८६
 उपरूपक के भेद १७४
 उपाख्या प्रतिभा २८७
 ऋषि
 ऋग्वेद ३५१
 का पुरुषसूक्त ३६२
 ए
 एकेडेमी, फ्रांस की ३४७
 एकेश्वरवाद ७१
 एडगर एलेन पो १७९, २२७
 एडीसन १३५, २४०, २४७, ३५०, ३६६
 एसे २३६
 औ
 गौरंगजेब १५०

- | | |
|---|--|
| <p>क</p> <p>कथन</p> <ul style="list-style-type: none"> अश्राव्य (स्वागत) — १५० नियतश्राव्य १५०, १५१ सर्वश्राव्य — १५०, १५१ <p>कथा १८०</p> <p>कथावस्तु —</p> <ul style="list-style-type: none"> आधिकारिक — १५५ प्रासंगिक — १५५, १५७ — का निर्वाह १६८-१६९ — के फल १६१ — के भेद १४०, १६५ <p>कथोपकथन १४८</p> <ul style="list-style-type: none"> — के प्रकार १४९ — के भेद १५१ वेदों में — १३८ <p>कबीर ००, ३४०</p> <p>कस्तुरा ११</p> <p>कला</p> <ul style="list-style-type: none"> — अभिव्यंजना की विधि ३ उपयोगी और ललित १६ — एक अख्यंड अभिव्यक्ति १२ <p>कला और अभिव्यंजना ३</p> <ul style="list-style-type: none"> — और आचार ९, ७२-७३ — और इतिहास ४ — और दार्शनिक परंपरा ७२ — और धर्म ७२ — और प्रकृति ७ | <p>कला — और मनःशक्तियाँ ५</p> <ul style="list-style-type: none"> — का अनुभूति-पक्ष १४ — कार और द्रष्टा का संबंध १९ — का रूपपक्ष १४ — का वर्णकरण १२ — का संबंध योग से २८९ — की अभिव्यक्ति १४ — की सीमा ४ — के मूल में स्थायी भाव ५ — के लिये — ११, १२, ७४ — के लोकपक्ष ७३ — के संबंध में क्रोचे का मत १२ — के संबंध में क्रायड के अनुयायियों के विचार ७२ धर्मार्थमिश्रित-बाद ७४ भावपक्ष ८१ पक्ष ९३ सफल कार १४ <p>कल्पना —</p> <ul style="list-style-type: none"> कवि — १०४ — में सत्यता १०५, १०६, १६५, २१७ — का आनंद २५५ तन्व २४९, २५३-२५५ <p>कविता —</p> <ul style="list-style-type: none"> — आत्माभिव्यंजक ११३, ११५ — और छंद १०१ — और संगीत २५ |
|---|--|

कविता की परिभाषा १८, १०८
—की व्यंजनाशक्ति १०९
—की सीमा १८०
—के विभाग ११३
—भारतीय—का स्वरूप ९७
 भावात्मक—११३
 मौतिक—११३
—मय गद्य ७६
—में प्रकृति के नाना रूपों का
 प्रयोग १०८
 रहस्यवादी—२४५
 वस्तुवर्णन विषयक—११६
 विषयप्रधान ११३-११४
 व्यक्तित्व-प्रधान ११३
कवि पर विज्ञान का प्रभाव १०७
कवियों के महत्त्व का आदर्श १११
कहानी—
—कला का विकास २३४
 रूसी—लेखक २३१
कादंबरी ७६, १८५, २१८
कामशास्त्र २६६
कारणिची प्रतिभा २८७, ३६७
कारलाइल १०१, २४२
कालिदास १३८, २८३, ३०२,
 ३४८, ३५१
कालिनस १२३
काव्य—
 आत्माभिव्यञ्जन संबंधी ७९

काव्य—और लोकहित ७०
—और साहित्य ५८
—कला २३, ६८, ६९
—और चित्रकला २६
—का महत्त्व ३०
—से अन्य कलाओं का संबंध
 २३-२४
—का अध्ययन ८१
 प्रतिभा का परिचय ८१
 रचनाशैली ८२
 समयानुक्रम और विकास-क्रम
 ८४
 तुलनात्मक प्रणाली ८५
 जीवन-चरित ८५
 श्रद्धा ८७
—का वाह्य या प्रत्यक्ष स्प ३०३
—कार की साधना ७९
—का व्यापक अर्थ २३२
—का सत्य ६८
—की अंतरात्मा ३०३
—की परिभाषा ४३, ४४
—की व्याख्या ६४
—के अंतरभेद ७०
—के उपकरण ६१
 सौंदर्य ६०
 रमणीय अर्थ ६४
 अलंकार और रस ६५
 भाषा ६६

- | | |
|---------------------------------------|--|
| काव्य—के उपादान ७७ | कलाइववेल ७४ |
| —के कुछ व्यावहारिक विभाग ७५ | किंवलर कोच ७५ |
| —के तत्त्व २४९ | दैमेंद्र ३६९ |
| —के भावपत्र और कलापत्र
३०१ | ग |
| खंड ११५-११६ | गद्य और पद्य ८६ |
| —गत सुंदरता ६२-६३ | गद्य पर अङ्गरेजी भाषा की शैली
का प्रभाव ३१५ |
| गद्य—१३७ | गल्प १७६ |
| गद्यात्मक—७६ | गांधार प्रदेश ५६ |
| गीत—११५ | गिरीश धोष २१० |
| महा—११५, १३७ | गिलबर्ट मरे, प्राफेसर १२१ |
| मुक्तक—२४५ | गीतकविता २३९ |
| —में बुद्धितत्त्व २५३ | गुणात्मक भाव २५८, २६२ |
| —रोमांस—१७८, १८६ | गुलाबराय २४५ |
| वर्णनात्मक—७८ | गुलिवर्सट्रैवल्स १८२ |
| —साहित्य में सत्यं शिवं
सुंदरम् ७० | गेतै १२४ |
| काव्यप्रकाश ९८, ३४०, ३६७-३६८ | गोरा १८९ |
| काव्यमीमांसा ३४०, ३६८ | गौड़ी रीति ३१४ |
| काव्यादर्श ३६८ | ग्रे ३२८ |
| काव्यालंकार ३६८ | च |
| किशोरीलाल गोस्वामी १८८ | चंद्रकला भानुकुमार १८६ |
| कृष्णकाव्य ३४४ | चंद्रकांता १८२, ३३२ |
| केशवदास ४९, ८५ | चंद्रकांता संतति १८७, ३३२ |
| केशवप्रसाद मिश्र २८०, २८५ | चरित्र-चित्रण |
| कोरनील १२४ | अभिनयात्मक या परोक्त—१४३ |
| कोटहोप ३४७ | विश्लेषात्मक—१४३ |
| क्रोचे १२, ३६, ६१, ९६ | चालसी लैब २४२ |
| | चित्रकला २१, ६१, ६९ |

चित्रकाव्य ११

चुनार की पहाड़ियाँ १८७

ज

जगन्नाथ पंडितराज १८, २९१,

२९४, २९६

जगमोहनसिंह, ठाकुर ३३२

जानसन, डाक्टर १०१, २४०,

३२७, ३४७, ३५७

जायसी, मलिक मुहम्मद ५०, ३४०

जीमूतवाहन २९५

जीवन-चरित ८१

जेनलाइजेशन ३५४

जेफ्रे, लार्ड ३३२

ज्ञान शक्ति ५

ट

टालिनस १२२

टाल्स्टाय ७४

ड

डान क्रिक्केजन १८२

डायोनिशस १२१

डिकेंस १७९, २२२

डीक्वेंसी २४१

त

ताकिंक विश्लेषण २४०

तिलक, लोकमान्य ३४८

हुलसीदास ४५, ४९-५०-६०, ८१,

८६, ८७, १०७, ३३२, ३३८

३४०, ३४४, ३५६, ३६२

	तुलसीदास—और लोकसंग्रह की
	भावना ३६२
	थ
	थेस १२२
	द
	दंडो ३६८
	दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा ४
	दशकुमार-चरित १८३
	दशरूपक १४६
	दार्शनिक अंतर्दृष्टि २३९
	दुष्यंत १५८, २७०, २७५, २७६
	देव कवि ८५
	देवकीनंदन खत्री १८७
	द्विजेश्वलाल राय १४१
	ध
	धनंजय १४४, १४६, २७९, २८१
	—की संयोगशंगार की व्याख्या १
	२५३
	धनपतराय, मुंशी (प्रेमचंद) १९०
	—के उपन्यास १११
	धनिक १४५, १४७
	धर्म-जनित भाव २६३
	ध्वनि १९, २७७
	ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति २२३
	ध्वन्यालोक ३६७, ३६८
	न
	नंदिकेश्वर ६६
	नंदीश्वर २६६

- | | |
|---|--|
| नदी २६६ | नाटक—में कथावस्तु १५८ |
| नरवाहनदत्त २६९ | यूनान के करणरसात्मक |
| नागानंद २९५ | नाटकों की उत्पत्ति १२१ |
| नाटक— | यूनान के हास्य—१२२ |
| —आकाशभाषित १५३ | —रचना के सिद्धांत १६३ |
| —और नैतिक उन्नति १६२ | रोम के—१२२ |
| —कथावस्तु का निर्वाह १६८ | वस्तु १६८ |
| —कथोपकथन १४८ | संकलन-त्रय १५३ |
| —कथोपकथन के प्रकार १४९ | स्थल-संकलन १५६ |
| —काल-संकलन १५४, १५६ | स्वगत कथन १५० |
| —के छः तत्त्व १३८, १६९ | नाटकों की विशेषता १३६ |
| —के पाँच भाग, पाश्चात्य
साहित्यकारों के अनुसार १६४ | —में विरोध १७२ |
| —जर्मन—और नैतिक आदर्श
१६३ | नाटकीय आख्यान २२९ |
| दुश्खांत—१८९ | नाटिका १६९ |
| देशकाल १५४, १९२ | नाट्यशास्त्र १४, २६७ |
| पात्र १४१ | नाट्यसाहित्य, मध्ययुग के यूरोप के
१२२ |
| पारसी नाटक-मंडलियों के | नायक के भेदोपभेद १४४-१४५ |
| उदू—१५५ | नायिकाओं के भेदोपभेद १४६-१४७ |
| फ्रांसीसी—और नैतिक | निवितर्क समाप्ति २८० |
| आदर्श १६२-१६३ | निवंध |
| भारत और यूरोपीय उद्देश
में भिन्नता १६३ | —का विकास २३६ |
| भारत के प्राचीन नाटकों में
जीवन की व्याख्या १६२ | —की काठियाँ २४१ |
| भारतेंदु काल के—१८६ | —की विशेषता २३५ |
| —में अंक १६१ १७० | —के उपकरण २३८ |
| | —दार्शनिक २१९ |
| | —हिंदी में २४४ |
| | नौका झब्बी १८९ |

प	पंचतंत्र २१८ पंचसायक २६६ पताका १६६ पताकास्थानक १४१ पदविन्यास ३१८ पदार्थविज्ञान २५१ पद्माकर १०८ पर-प्रत्यक्ष २८३-२८४ परिच्छेद या अध्याय ३१८ परिज्ञान २५४ परमाणु वृत्ति ३१४ पांचाली रीति ३१४ पूर्णसिंह २४५ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष ३५९ पो, एडगर एलेन १७९ पोप ३२८ प्रकरी १६६ प्रख्या प्रतिभा २८७ प्रज्ञात्मक भाव २५६, २६०, २६३, २६५ प्रतापनारायण मिश्र २४४ प्रतिभा —कारयित्री २८७ —भावयित्री २८७ प्रमेय और प्रमाण ३५८ प्रवृत्तियाँ, काव्य का रूप संकुचित करने की ५९	प्रसाद गुण ३१४ प्रहसन १६९ प्रख्या २८७ प्रेक्ष्यगृह १२८ प्रेमचंद १९० —कला के तीन गुण १११ प्लेटो ३६४
		फ
		क्रायड के सिद्धांत ९
		ब
	वंकिमचंद्र १८९ वदरीनारायण चौधरी २४५ वर्नार्ड शा ७४ वलि राजा २९५ वाणभट्ट ७६; १८५ वालकृष्ण भट्ट २४४ वालरामायण १६९ बीसलदेवरासो ११६ बुद्धि अंतःकरण की वृत्ति २५२ —की यक्षियाएँ ५ —तत्त्व ७९, २४९ वेकन २४० ब्रेट्हार्ट २२७	
		भ
	भट्ठनायक २७५, २८६ भट्ठनायक का भुक्तिवाद २७६ भट्ठ लोल्लट का उत्पत्तिवाद २७३ भरत मुनि/१४, १४६, २७३, २७४, २७७	

- भवभूति २८३, ३५१
 —के नाटक २७६
- भारा १६६
- भारतसौभाग्य नाटक १३६
- भाव २६१-२६२, २६५, २६७
 इंद्रियजनित—२५८
 —का धात्वर्थ २६७
 गुणात्मक—२६२
 पक्ष ११, १३, २४८
 —पक्ष तथा कला पक्ष २४९
 प्रज्ञात्मक—२६०
 प्रवणता २५२
 शब्दलता ०९०
 शांति २९०
 संधि २५०
 सामाजिक २७५
 साहित्यिक—शब्दलता २४३
 सांदर्भ-विवेकी—२६३
 स्थायी—९६, २६१, २६५
 २६८, २७५, २७९, २८३
 भावनाशक्ति ५
 भावों की उत्पत्ति २५६
 अनुरागजनित—की व्यापकता
 २६२
 —के प्रकार २५७
 भावोदय २५०
 भाषा और भाव ९७
 भाषाविज्ञान ६६
- भास १३१
 भुक्तिवाद २७६
- भूगर्भ शास्त्र ३२५
 भूषण ५२, ८५, ८७
 म
- मंदोदरी ३५६
 मछ्सन १२२
 मतिराम ८५
 मदनमंजूषा २६९
 मधुमती भूमिका २८३, २८४, २८७
 —और पर-प्रत्यक्ष २८०, २८३
 मन २५७, २९०
 —और पाश्चात्यविज्ञान २५२,
 —की चेतना शक्ति २५२
 —बुद्धि और आत्मा २८६
 मनोविज्ञान ७२, २५२
 पश्चिमी—२८८
 मनोवृत्तियाँ, मनुष्य की चार ७७
 —मूल, शरीरजन्य—१०
 मनोवेग या भाव २५६, २६२
 ममट ९९, ३७०
 —की वृत्ति ३५९
 मल्लिनाथ ३१९
 महानाटक १६८
 महाभारत ११५, १२०
 महावीरचरित २९५
 महावीरप्रसाद द्विवेदी २४४
 माइकेल एंजिलो ९, ६८

माघ ३५०
 माधव २६९, २९३
 माधवप्रसाद मिश्र २४५
 मातुर्य गुण ३१५
 मानसिक क्रियाओं के विभाग ५
 मालती २६९
 मालती माधव २६९, २९६
 —में वीभत्स रस २९५
 मिनेनडर १२२, १२३
 मिल्टन ३२८, ३४७, ३५०
 मुद्राराज्ञ स १५३
 मूर्तिकला २१
 मेकाले ९१, २४१
 मेघदूत २५६
 मैथ्यु आर्नल्ड ७३, ११२, २४१,
 ३४७, ३६७
 मोरिस १२२
 मोलिवर १२४
 मौनटेन २३६, २३८, २३९, २४४
 य
 यमक ३१७
 यथार्थवाद और आदर्शवाद १२६
 यूनान २३६, २७६
 —में साहित्य और काव्य ३६४
 योगायोग १८९
 र
 रंगमंच
 जापानी—१३४

रंगमंच—भारतीय—९३
 यूरोप का—१३१
 शेक्सपियर के समय का—१३२
 रघुवंश ३०२
 रणधीर प्रेममोहिनी १८६
 रति रहस्य २६६
 रत्नावली १४५, २६८
 —में प्रतिभाव संविध १६७
 र्वीद्रनाथ ठाकुर ११९
 रस ९५
 —अंतःकरण की वृत्तियाँ २५०
 अद्भुत—२६५
 अनुभव २६५, २७१
 अपूर्ण—२६०
 आत्मपत्र २८९
 —और कला से योग का संबंध
 २८६
 —और साधारणीकरण २८७
 करण—२९८
 काव्य की आत्मा ६३
 —की अनुभूति ६६
 —की अभिव्यक्ति २७७
 —की निष्पत्ति ७, ९३, ६६
 —की व्याख्या २७६
 —के विषय में भ्रम ६८
 —निरूपण २६५
 निर्वेद—२६१
 बड़े महत्त्व के भ्रम २८८

- | | |
|-----------------------------|---|
| रस—वीभत्स—२९५ | —का वनगमन २०५ |
| भयानक—२६७ | रामचंद्र शुक्ल २४५ |
| भेद २९० | रामचरितमानस ६०-६१, ८६, ११५
१४०-१४१, ३३२, ३३८ |
| रौद्र—२९७ | —में लोक-संग्रह की भावना ३६२ |
| विभाव २७०, २७२ | रामानंद ५० |
| वीर—२६५ | रामायण (वाल्मीकि-कृत) १२० |
| —विरोध ३०० | रावण ३५६ |
| व्यभिचारी भाव २६७ | रिचर्ड् स, आई० ए० ३६, ७ ^१ , ३६६ |
| शंका-समाधान—२८३ | रिजवे, ग्रीफेसर १२१ |
| शांत—२९८ | रिपब्लिक ३६४ |
| शूगार—२९१ | शीति - गौड़ी ३१४ |
| संचारी भाव २६१, २६५, २६९ | वैदर्भी—३१४ |
| हास्य २९४ | मागधी—३१४ |
| —के सहायक संचारी १९५ | रूपक ११७ |
| रसगंगाधर ४४, ६४ ९८, ९९, ३०१ | अनुकरण ११५ |
| रसतरंगिणी २६८ | अभिनव १२९ |
| रसास्वाद की अवस्था १८२ | भारतीय—रचना १२७ |
| रसों का रहस्य २६६ | —का रूप १२८ |
| रसों की निष्पत्ति २६६ | —के भेद १७२ |
| रस्किन २४२, २४५ | उप—१७४ |
| राइमर ३४७ | रेसीन १२४ |
| राखालदास बन्द्योपाध्याय २११ | रोम १२८, २३६ |
| राग २६२ | रोमांस १७८, १८६ |
| रागात्मक तत्त्व ७९, २४९ | ल |
| —भाव २६२, २६५ | लक्षणा ३११ |
| राजशेखर १६९, २६६, ३६८ | ललित्र कलाश्रो |
| रावर्ट्सन, टी० डब्ल्यू० १२५ | —का आधार १७ |
| रामचंद्र १४१, २९५ | |

ललित कलाओं—का मूर्त आधार १७	वाक्यों की विशेषता ३०८
—का ज्ञान २८	वाचस्पति की टीका ३५९
—का श्रेणी-विभाग १७	वात्स्यायन २६६
—की पारस्परिक तुलना २३	वार्तिक ३६९
—के आवार-तत्त्व १८-१९	वाल्ट पेटर ७३
—के उपकरण १९	वाल्टेयर ३४७
—पर यूनानियों का प्रभाव ५६	वल्मीकि २८३
वास्तुकला और कविता २८	वासवदत्ता १४५, १६७
लांगीनस ३६४	वास्तुकला २०
लास्की, हेरल्ड २४२	विकासवाद ६६
ले हैंट २४१	विद्यासुंदर १८६
लोलिंबराज ६५	विक्टर ह्यू गो १२४
	विधि और अनुवाद या अर्थवाद ३६१
व	विनयपत्रिका ३३२
वक्रोक्ति ३१७	वियोजक शब्द ३१९
वत्सराज उदयन १४५, १६७	विलियम आर्चर १२५
वर्ड सवर्थ ७६	विश्लेषात्मक या साक्षात् चरित्रचित्रण १४३
वर्डफोल्ड ३६६	विश्वनाथ कविराज ९७, २९१, ३६८
वल्लभान्नाय ५१	विश्वस्त्रिय अर्थात् मानवआदर्श ३५१
वस्तु—	विहारी ८७
आधिकारिक—१४०, १५५	वृत्त ३२०
—के भेद १३८, १५०	वृत्ति
—पक्ष २८९	प्रौदा—३१४
प्रासंगिक—१४०, १५५	मधुरा—३१४
—संकलन १५३	कोमला—३१४
चाक्य—	मन की वृत्तियाँ ६
—में अवधारण का संस्थान ३११	चृहत्कथा २६९
समीकृत—३१०	
समीकृत—का प्रभाव ३१०	

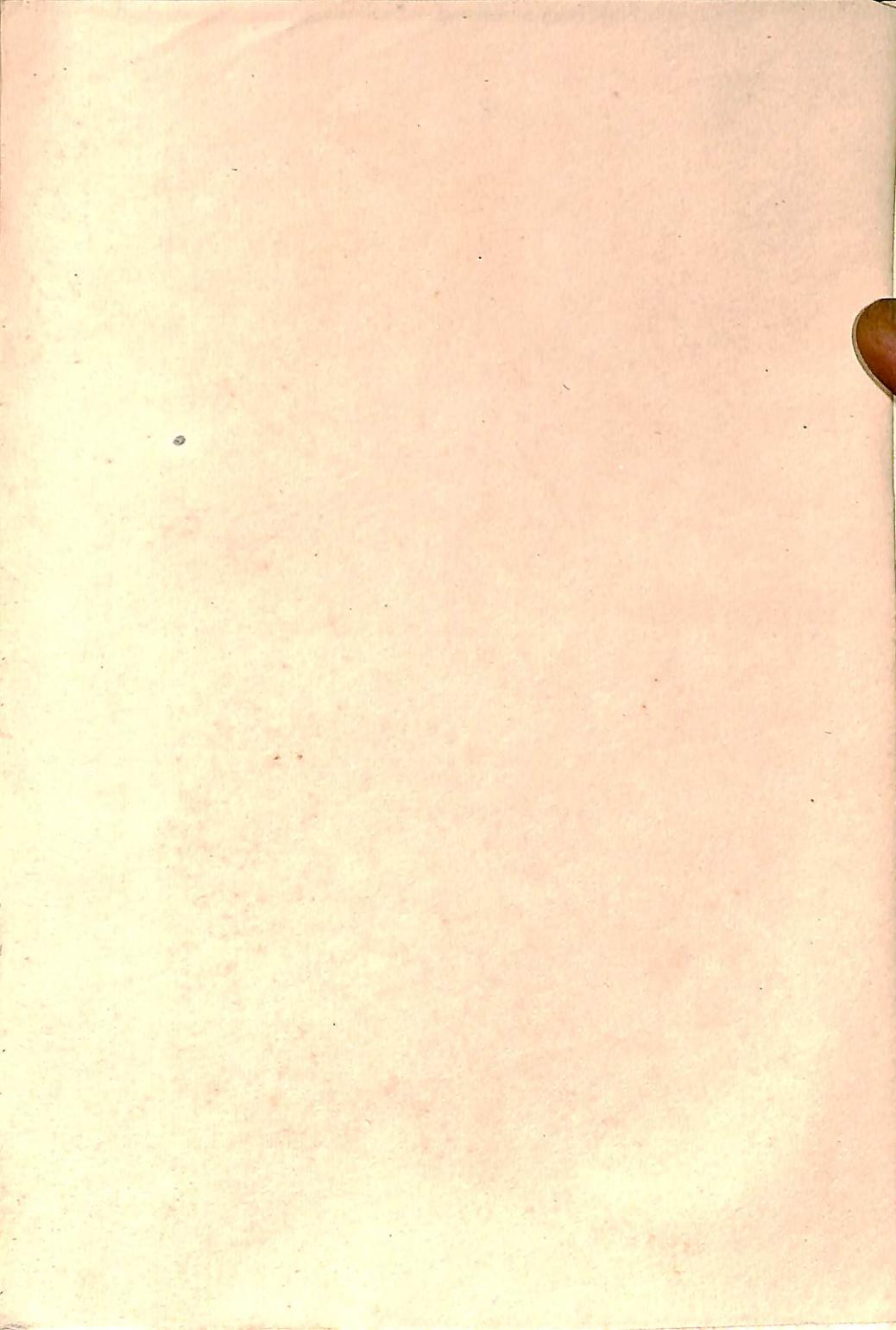
वेदांतसार २५१	शैली—
वैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण ४	उपसंहार ३२१
वैदर्भी रीति ३१४	—का मूल तत्त्व ३०४
वैद्य-जीवन ६५	—का रूप ३०१
वैद्यावतस ६५	—के गुण ३२०
व्यंजना २७६, ३११, ३१४	ताकिंक—२३९
व्यायोग १६९, १७३	ध्वन्यात्मक—२२७
व्यास, पातंजल सूत्रों के भाष्यकर्ता २८१	प्रत्यक्ष—२८५
व्यास शैली ३५९	भारतीय—के आधार ३११
व्रजवासीदास ४९, ८५	भावनाप्रधान—२३६
श	वस्तुप्रधान—२३६
शंकर ३५९	व्यग्रपूर्ण—२४०
शकुक का अनुर्मितिवाद २७४	व्यक्तित्वप्रधान २२६
शकुंतला १४१, १५८, २१८, २७०,	शैथिल्यपूर्ण २३८
२७५, २७६	समास ३५९
शब्दशक्ति का ज्ञान ३५५	श्यामास्वप्न ३३२
शब्दों का महत्त्व ३०४	श्लेष ३१७
—की शक्ति ३११	स
शरन्वद्र १८९	संकलन
शशांक २११	काल—१५३
शिलर १२४	भारतीय नाटकों में काल—१५९
शिवाजी १५०	यूनानी नाटकों में काल—
शृंगारस २९१	१५४, १५६
शेक्सपियर १२४, १३५, १४१,	शकुंतला नाटक में काल—१५८
१४७, ३५०	देश या स्थान—१५३
—और संकलन-त्रय १५३	फ्रांसीसी नाटकों में—१५४
—के समय का रागमच १३३	यूनानियों के स्थल संकलन
शैली ९, १६२	का अर्थ, १५९

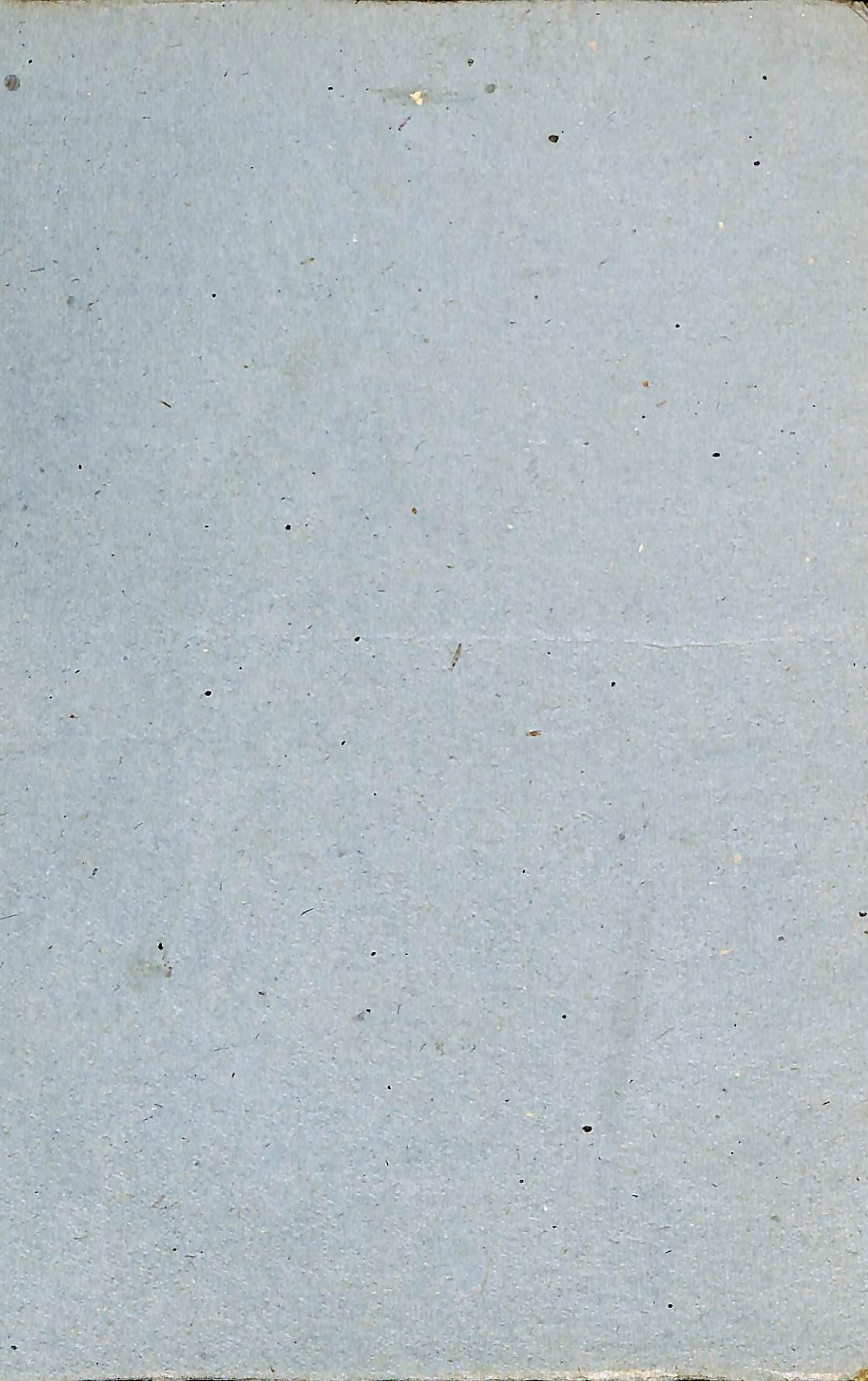
संकलन-त्रय १५४
 इटली में १५४
 संगीत-कला २२
 सधि १६६
 मुख—१६६
 प्रतिमुख—१६७
 गर्भ—१६७
 अवमर्श या विमर्श—१६७
 निर्वहण—१६८
 सयोजक शब्द—३१६
 स कार और वृत्तियाँ १
 की उत्पत्ति और विकास १-२
 —सम्यता का मानदण्ड २
 सत्यहरिश्चन्द्र १५३
 सब्लाइम ३६४
 समास शैली ३५९
 सर्वदमन १५८
 सागरिका १४५, १६७, २९८
 साधारणीकरण १००, २८१, २८४-
 २८५, २८७, २८९
 सायरण ३५९
 साहित्य ३५१, ३५४, ३६५
 आत्माभिव्यंजक—३६
 —इतिहास का सहायक और
 थार्याख्याता ४९
 —और काल की प्रकृति ४९
 —और जातीयता ४६
 —और जीवन में सार्वजन्य ३४

साहित्य—और विज्ञान ३८
 —और—कार का व्यक्तित्व ४५
 —कला का महत्व ३१
 —कला का रूप ३६
 —का विकास ५३
 —का व्यापक अर्थ ३५३
 —का स्वरूप-निरूपण ३१
 —की आत्मा ३५६
 —की परिभाषा ६१
 —की मूल मनोवृत्तियाँ २४६
 —की सार्वभौमिकता ४१
 —के भिन्न भिन्न रूप ४१
 —हे रस की अलौकिकता
 ३६, ३७
 जातीय—४७
 जातीय—का अध्ययन ५४
 ज्ञान का—४२, २१७
 —दर्शन ३२
 —पर प्रेमाख्यानक काव्य का
 प्रभाव १८६
 —पर विदेशी प्रभाव ५३
 —फांसीसी ४७
 —भारतीय आर्य जाति का ४७
 —भाव-जगत् का प्रतीक ६१
 —भाव या शक्ति का ४२
 —मैं अनेकरूपता ४८
 —मैं भाव की प्रधानता २
 —मैं भावनामूलक समता २४८

- | | |
|---------------------------|-------------------------------|
| साहित्य यूनान—४८ | सूरदास ८५, ३४० |
| यूरोपीय—६० | सौंदर्यपञ्च—दे० कलापद्ध |
| रसात्मक—३५३ | सौंदर्यविवेकी भाव २६३ |
| शक्ति का—४२, २१७ | स्काट १७९, २२२, ३३२ |
| —शास्त्र २४९, २५३ | —बँगला के १८९ |
| —शास्त्र और छंद ९७, १०० | स्टील २४१ |
| —शास्त्र का सिद्धांत ३६७ | स्वप्नविज्ञान ९, १० |
| —शास्त्रीय ३५४ | स्वभावोक्ति ३१८ |
| संस्कृत के—शास्त्र ३५४ | ह |
| संस्कृत—२८२ | हकीकतराय २९५ |
| स्थायी—के गुण ३३७ | हरिश्चन्द्र, भारतेंदु ५२, २४४ |
| हिंदी—का इतिहास ५०, ५२ | हरिश्चन्द्र (राजा) १५३, २९५ |
| हिंदी—के इतिहास की अनेक | —का शमशान-प्रवास २०९ |
| धाराएँ ५१ | हाथर्न २२७ |
| साहित्यदर्पण ९८, ३४०, ३६८ | हाथवे १७९ |
| स्पेक्टेटर १३५ | हेजलिट २४१ |
| सुग्रीव १४१ | हिटमैन १०१ |
| सुपरनेचुरल ३५४ | |
-







१० व० श्यामसुन्दर लिखित पुस्तकें

भाषा-रहस्य

इस ग्रन्थ में भाषाशास्त्र के सभी मुख्य प्रश्नणों का विवेचन है। योरपीय भाषाओं के सम्बन्ध में भी इसमें विवेचना है। पुस्तक भारतीय विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुरूप है। बड़ा आकार, अच्छा कागज, पृष्ठ ४०० से ऊपर। सजिलद प्रति का मूल्य पाँच रुपये आठ आने।

हिन्दी-साहित्य

इसमें विद्वान लेखक ने प्रत्येक युग की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कर यह बतलाया है कि साहित्य की प्रगति किस समय किस ढंग की थी। कवियों के विषय में इधर जा नये अनुसन्धान हुए हैं उनके आधार पर साहित्यिक स्थिति का वर्णन करके कवियों की रचना के उदाहरण भी दिये हैं। अच्छा कागज, उत्तम छपाई, पृष्ठ ४५० से ऊपर। सजिलद प्रति का मूल्य चार रुपये।

हिन्दी-कोविद-रत्नमाला

पहले भाग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर नामी चालीस हिन्दी-लेखकों का संक्षिप्त सचित्र जीवन-चरित है। यह रत्नमाला अपने ढंग की अनूठी है। मूल्य दो रुपये पाँच आने।

दूसरे भाग में जोधपुर के मुंशो देवीप्रसाद आदि प्रमुख चालीस लेखकों का सचित्र संक्षिप्त जीवन-चरित है। मूल्य दो रुपये ग्यारह आने।

हिन्दी के निर्माता

(दो भागों में)

इसमें हिन्दी के नामी ५१ लेखकों और कवियों की संक्षिप्त सचित्र जीवन-घटनाएँ हैं। पहले भाग में उन लेखकों का वर्णन है जो लोकान्तरित हो चुके हैं। दूसरे भाग में वर्णित अधिकांश निर्माता वर्तमान काल के हैं। मूल्य प्रत्येक भाग का दस आने।

मिलने का पता—

मैनेजर बुकडिपो, इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग